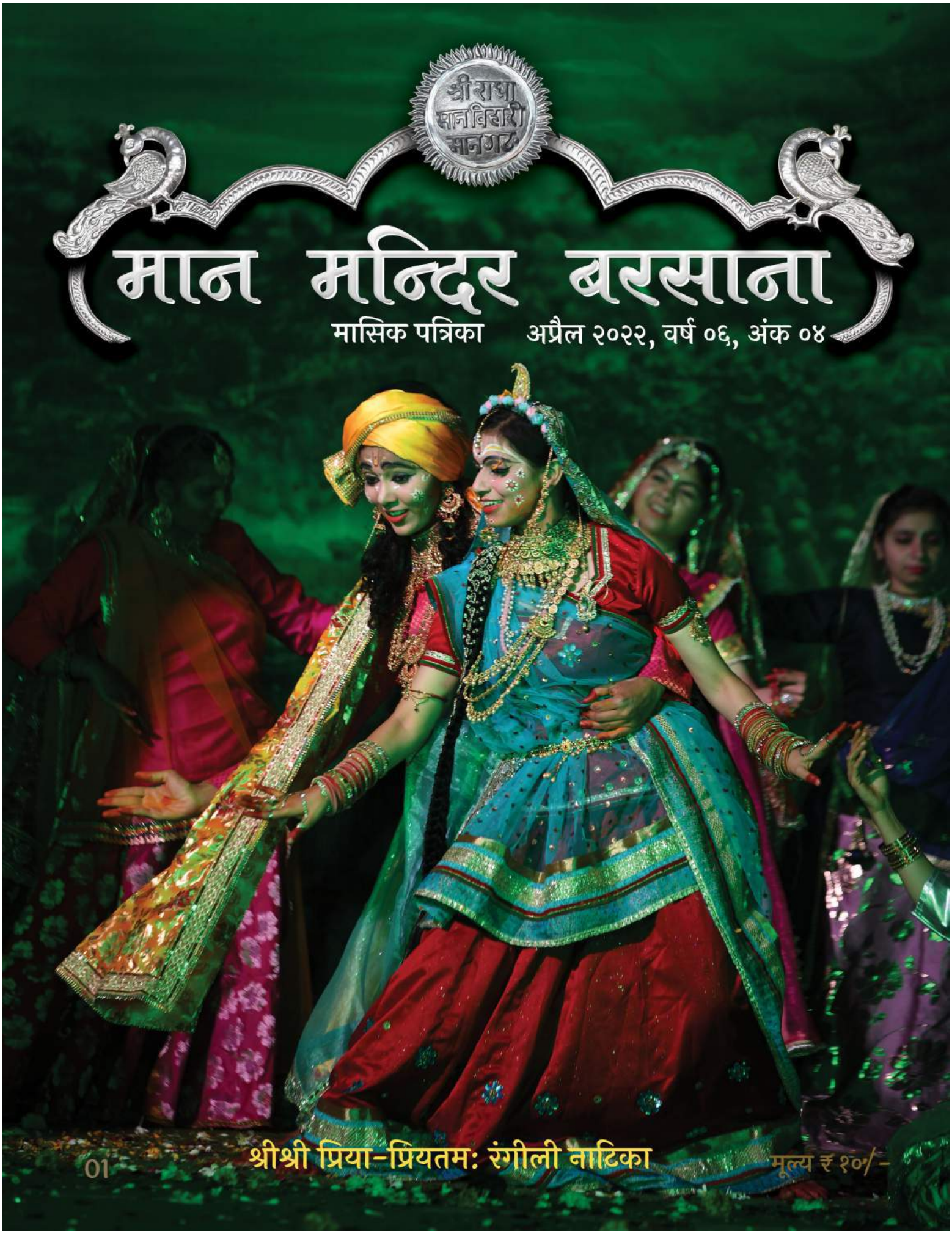

मान मन्दिर बरसाना

मासिक पत्रिका अप्रैल २०२२, वर्ष ०६, अंक ०४

श्रीश्री प्रिया-प्रियतमः रंगीली नाटिका

मूल्य ₹ १०/-

रंगीली नाटिका २०२२,
रस मण्डप, गह्वर वन, बरसाना

अनुक्रमणिका

	विषय– सूची	पृष्ठ– संख्या
१	ब्रजरस–प्रदायिनी 'श्रीरायिकारानी'	०५
२	परम रसरूयपणी 'श्रीभागवतजी'	०८
३	परमाराध्य'श्रीकृष्णावतार'	१२
४	संत–संग से ही श्रीयुगल–दर्शन	१४
५	असली औषधि 'गौ–आराधना'	१७
६	सौम्य–स्वभाव से सहज–भक्ति	१९
७	सौम्य–स्वभाव से सहज–भक्ति	२१
८	प्रेमपाठशाला से बने ब्रजभावुक 'उद्धवजी'	२२
९	कथावाचक का आभूषण 'विनम्रता'	२६
१०	गुणग्राही 'श्रीदत्तात्रेयजी'	२८
११	वैराग्यमयी रहनी से वास्तविक भक्ति	३०
१२	पारमार्थिक–शिक्षा ही परमकल्याणकारी	३२

होरी में काहे भागो अरे लगवाय लौ,
कजरा नंद जू के ||
काजर तोय लगाऊँ ऐसो
तिलक लगावै सज के जैसो
छैला अपनो साज आज सजवाय लै, ढोटा नंद ..
तिरछी चाल चलै ऐंडातो
सबरे ब्रज डोलै मदमातो
ऐंठो डोलै सबरी ऐंठ झराय लै, छोरा नंद ...
बहुत दिना तक मटकी फोरी
बहुतै करी तैनें माखन चोरी
अपनी सबरी करनी को फल पाय लै, लाला नंद
भर–भर डारूँ रंग को गड़ुवा
तोय करूँ होरी को भड़ुवा
बच्चा छन्यो डोलै रसिया रस पाय लै, लाड़ले नंद

|| राधे किशोरी दया करो ||

हमसे दीन न कोई जग में,
बान दया की तनक ढरो |
सदा ढरी दीनन पै श्यामा,
यह विश्वास जो मनहि खरो |
विषम विषयविष ज्वालमाल में,
विविध ताप तापनि जु जरो |
दीनन हित अवतरी जगत में,
दीनपालिनी हिय विचरो |
दास तुम्हारो आस और की,
हरो विमुख गति को झगरो |
कबहूँ तो करुणा करोगी
श्यामा, यही आस ते द्वार
पर्‌यो |

— **पूज्यश्री बाबा महाराज कृत**

श्रीमानमंदिर की वेबसाइट www.maanmandir.org के द्वारा आप प्रातःकालीन सत्संग का ८:०० से ९:०० बजे तक तथा संध्याकालीन संगीतमयी आराधना का सायं ६:०० से ७:३० बजे तक प्रतिदिन लाइव प्रसारण देख सकते हैं |

संरक्षक– **श्रीराधामानबिहारीलाल**

प्रकाशक – **राधाकान्त शास्त्री, मानमंदिर सेवा संस्थान,**
गह्वरवन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.)

mob. राधाकांत शास्त्री 9927338666
ब्रजकिशोरदास.....6396322922

(Website :www.maanmandir.org)

(E-mail :info@maanmandir.org)

परम पूज्यश्री रमेश बाबा महाराज जी द्वारा सम्पूर्ण भारत को आह्वान –

"मजदूर से राष्ट्रपति और झोंपड़ी से महल तक रहने वाला प्रत्येक भारतवासी विश्वकल्याण के लिए गौ–सेवा–यज्ञ में भाग ले |"

*** योजना ***

अपनी आय से १ रुपया प्रति व्यक्ति प्रतिदिन निकाले व मासिक, त्रेमासिक, अर्धवार्षिक अथवा वार्षिक रूप से इकट्ठा किया हुआ सेवा द्रव्य किसी विश्वसनीय गौ सेवा प्रकल्प को दान कर गौ–रक्षा कार्य में सहभागी बन अनंत पुण्य का लाभ लें | हिन्दू शास्त्रों में अंश मात्र गौ सेवा की भी बड़ी महिमा का वर्णन किया गया

विशेष:– इस पत्रिका को स्वयं पढ़ने के बाद अधिकाधिक लोगों को पढ़ावें जिससे आप पुण्यभाक् बनें और भगवद्–कृपा के पात्र बनें | हमारे शास्त्रों में भी कहा गया है –

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ | जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि || (श्रीमद्भागवत३/७/४१)

अर्थ:– भगवत्तत्त्वके उपदेश द्वारा जीव को जन्म–मृत्यु से छुड़ाकर उसे अभय कर देने में जो पुण्य होता है, समस्त वेदों के अध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दानादि से होनेवाला पुण्य उस पुण्य के सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हो सकता |

प्रकाशकीय

'रस' एक अद्भुत शब्द है, जिसके अनेक अर्थ हो सकते हैं; यथा – भोजन के षटरस अथवा साहित्य के नवरस; परन्तु जो हमारा ध्येय है, वह कुछ अलग ही है; वह 'रस' अथवा 'आनन्दानुभूति' है, जिसका वर्णन वाणी से या साहित्यबोध से ग्राह्य नहीं है; वह 'रस' तो अद्भुत अलौकिक है, जिसे हम 'ब्रजरस' कहते हैं, इस रस में गाली भी आनन्द का हेतु बन जाती है अथवा अपमान भी सम्मान बन जाता है | हमारे बाबाश्री कदाचित् यह चर्चा करते नहीं भूलते कि नंदगाँव के कुछ ब्रजवासी उन्हें गाली से सम्बोधित करते हैं, तभी अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है अथवा कोई सज्जन बाहर से आ रहे थे तो रास्ते में पूछते जा रहे थे कि ब्रज कितनी दूर है ? उन्होंने बताया कि जब तुम्हें कोई गाली देने लग जाए तो समझ लेना कि अब ब्रज आ गया | परात्पर तत्व 'श्रीकृष्ण' को गँवार ग्वारिया सवारी बनाकर उसके ऊपर चढ़ते हैं तो कृष्ण के आनन्द का ठिकाना नहीं रहता | कहा गया है –

ब्रज की कीच लगै याय प्यारी लोटै मटमैलो |

बड़े–बड़े सुगन्धित पदार्थों को छोड़कर ब्रज की गन्दी कीच में वे सुख की अनुभूति करते हैं, इस ब्रजरस को समझना अत्यन्त दुष्कर है | यही कारण है बड़े–बड़े साधक–सिद्ध अपना सम्पूर्ण जीवन ब्रजरज में श्रद्धा के साथ व्यतीत कर देते हैं | हमारे परमाराध्य गुरु प्रवर पद्मश्री रमेशबाबा ने इस दिव्यतम रस की प्राप्ति में सारा जीवन अखण्ड ब्रजवास करते हुए लगा रखा है और उन्हीं महापुरुष के अनुभवों को उनकी वाणी से उद्धृत रसधारा में अवगाहन करने के लिए हमारे पत्रिका 'मानमंदिर, बरसाना' के पाठकगण पठन करेंगे |

प्रबन्धक

राधाकान्त शास्त्री

श्रीमानमंदिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

ब्रजरस–प्रदायिनी 'श्रीराधिकारानी'

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत–कथा' से संकलित

श्रीराधारानी भगवान् की भी आराध्या हैं । स्कन्दपुराण में कहा गया – **आत्मा तु राधिका तस्य ... ।**

श्यामसुन्दर की भी आत्मा हैं 'श्रीराधारानी', इसलिए उन राधारानी से अनादि–आदि–सर्वकारण कोई हो नहीं सकता है। राधारानी का जन्म कहाँ हुआ ? उनके जन्म के अवसर पर दो बातें मिलती हैं – 'रावल' में भी उनका जन्म माना जाता है और 'बरसाना' में भी उनका जन्म माना जाता है । रसिक महापुरुषों ने जो पद गाये हैं, उसमें जितनी लीलायें बरसाने की मिलती हैं, उतनी रावल की नहीं मिलती हैं । रावल में राधारानी का जन्म तो गाया गया है किन्तु जितनी भी अन्तरंग सरस लीलायें हुई हैं, वे सब 'बरसाना धाम' में ही हुई हैं। ठाकुरजी को ब्रज में ब्रजलीला करनी थी और ब्रज के बाहर भी काम करना था परन्तु राधारानी क्यों आयीं बरसाने में ? इनका प्रमुख कार्य था महारासलीला करना। बिना श्रीजी के आश्रय के श्यामसुन्दर रासलीला नहीं कर सकते थे । इसलिए महारास करने के लिए 'राधारानी' रावल से बरसाना आयीं। अब कृष्ण लीला में तो ब्रह्माजी मोहित हुए, फिर राधारानी की लीला में कौन मोहित हुआ ? श्रीजी की लीला (महारास लीला) सुनकर श्रवणभक्ति के आचार्य श्रीपरीक्षितजीमहाराज मोहित हो गये।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

(श्रीभागवतजी १/१/१)

"मुह्यन्ति यत्सूरयः" मोहित होकर परीक्षितजी ने शुकदेवजी से प्रश्न कर दिया कि श्रीकृष्ण ने तो धर्म का व्यतिक्रम किया, धर्म का उल्लंघन किया, परस्त्रियों का स्पर्श किया । अतः राधारानी और श्यामसुन्दर की महारास लीला, उनकी जितनी भी आन्तरिक श्रृंगार–रस की लीलायें हैं, इन लीलाओं को सुनकर परीक्षितजी जैसे भी मोहित हो गये, जो श्रवण–भक्ति के आचार्य हैं, फिर औरों के बारे में तो क्या कहना।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो
यत्र त्रिसर्गोऽमृषा ।

श्यामसुन्दर की वंशी ध्वनि के प्रभाव से जैसे पाषाण पिघल गये, यमुना जी रुक गयीं, इस प्रकार का श्रीजी में कौन–सा प्रभाव है तो गोपियाँ श्यामसुन्दर से कहती हैं कि तुम सैकड़ों वंशी ध्वनि भी एक साथ करो तो वह राधारानी के एक भी नूपुर की ध्वनि की बराबरी नहीं कर सकती है। अतः जब श्रीजी की नूपुर ध्वनि होती है तो उस समय भी प्रकृति में, सृष्टि में विरोधाभास होने लग जाता है । तरल जड़ हो जाता है, जड़ तरल हो जाता है । गोपियाँ नृत्य करना भूल जाती हैं, श्यामसुन्दर वंशी बजाना भूल जाते हैं । **तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो ।** ये श्रीजी के नूपुर का चमत्कार है और **यत्र त्रिसर्गोऽमृषा –** जैसे श्रीकृष्ण की त्रैसर्गिक लीला है – मथुरा लीला, ब्रज लीला एवं द्वारका लीला, उसी प्रकार राधारानी की भी तीन जगह लीलायें हुई हैं – बरसाना, रावल एवं वृन्दावन । ये श्रीजी के त्रैसर्गिक लीलास्थल हैं । श्रीजी ने रावल में जो लीला की, बरसाने में जो लीला की और वृन्दावन में जो लीला की, ये तीनों ही लीलायें अमृषा हैं, नित्य हैं, सत्य हैं । स्कन्द पुराण के अनुसार लीला के दो भेद किये गये हैं। एक होती है वास्तवी लीला और दूसरी होती है व्यावहारिकी लीला । इसी का दूसरा नाम है नित्य लीला और प्रकट लीला । वास्तवी लीला को नित्य लीला कहा गया और व्यावहारिकी लीला को प्रकट लीला कहा गया है। नित्य लीला वह है जो धाम में सदा–सर्वदा चलती रहती है। वहाँ ठाकुर जी का जन्म और धामगमन नहीं होता तथा प्रकट–लीला वह है जैसे द्वापर में भगवान् कृष्ण रूप से आये, उन्होंने जन्म लिया, फिर बाल–लीलायें कीं, कभी रोये, कभी हँसे, कभी ब्रजवासियों के साथ खेले। इसके बाद मथुरा में जाकर लीला की, फिर द्वारका में लीला की और अन्त में

धामगमन कर गये । अतः इस मृत्युलोक में जो लीला होती है, उसमें ठाकुरजी का जन्म भी होता है, लीला–संवरण भी होता है किन्तु नित्य धाम में जो नित्य लीला चल रही है, उसमें जन्म और धामगमन का व्यवधान नहीं होता है । वहाँ तो सदा से लीला चल रही है और सदा ही चलती रहेगी परन्तु ब्रजभूमि का उत्कर्ष बताते हुए कहा गया कि यह जो बरसाना धाम है, यह जो गह्वरवन धाम है – **अत्रैव व्रजभूमिः सा** – यह ब्रजभूमि वह धाम है जहाँ नित्य लीला एवं प्रकट लीला, दोनों ही लीलायें चलती हैं । प्रकट लीला चलती है, यह बात तो देखने में आ जाती है जैसे द्वापर युग में श्रीजी ने अवतार लिया और लीला की परन्तु अब तो वे हमें दिखायी ही नहीं पड़ रहीं हैं । नित्य लीला का तो मतलब है कि हमेशा लीला चलती रहे परन्तु हमें तो श्रीजी यहाँ दिखायी ही नहीं दे रही हैं फिर हम कैसे मान लें कि इस ब्रजभूमि में नित्य लीला चल रही है । स्कन्द पुराण में इसका उत्तर दिया गया है कि यहाँ नित्य लीला तो सदा चल ही रही है किन्तु जो इसके अधिकारी भक्तजन हैं, उन्हीं को इसका दर्शन होता है । अब हमें इसका दर्शन नहीं हो रहा है तो इसका मतलब यह नहीं है कि यहाँ लीला हो ही नहीं रही है । लीला तो हो रही है किन्तु हमें इसका दर्शन नहीं हो रहा है, यह बात अलग है लेकिन यहाँ प्रकट लीला भी होती है एवं नित्य लीला भी होती है । दोनों ही लीलायें श्रीराधारानी के इस पावन बरसाना धाम, ब्रजभूमि में होती हैं । श्रीकृष्ण की जो त्रैसर्गिक लीला कही गयी है ब्रज लीला, मथुरा लीला और द्वारका लीला, उसमें जो ब्रज लीला है, उसको नित्य लीला माना गया है तथा मथुरा, द्वारका की जो लीला है, उसको प्रकट लीला माना गया है । मथुरा और द्वारका में तो श्रीकृष्ण कभी आयेंगे और कभी चले जायेंगे परन्तु ब्रज से तो न कभी वे गये और न ऐसा है कि किसी निश्चित समय पर वे यहाँ आयेंगे । यहाँ तो वे सदा से हैं और सदा ही रहेंगे । इसीलिए ब्रज लीला को नित्य लीला माना गया है और मथुरा–द्वारका की लीला को प्रकट लीला माना गया है । वैसे ही श्रीजी की जो त्रैसर्गिक लीला है रावल, बरसाना और वृन्दावन में तो बरसाने की लीला को यहाँ के रसिकों ने नित्य लीला माना है एवं रावल तथा वृन्दावन की लीला को प्रकट लीला माना है । प्रकटलीला में आना–जाना होता है किन्तु नित्य लीला में आना–जाना नहीं होता है । अतः बरसाने में तो श्रीराधारानी नित्य विहार करतीं हैं परन्तु यह नित्य लीला उसी को दिखायी पड़ती है जैसा कि रसिकों ने गाया है –

यह रस बरसे बरसाने जू,
बिनु कुँवरि कृपा को पावे जू ।

जिस पर कृपा वर्षा, अनुग्रह वर्षा हो जाये, उसका साक्षात् नित्य लीला में प्रवेश हो जाता है । यह नित्य लीला भूमि है, यहाँ नित्य ही राधारानी की लीला होती रहती है और अधिकारीगणों को उसका दर्शन भी प्राप्त हो जाता है । जिन पर श्रीजी की कृपा होती है, उन्हीं को यहाँ नित्य लीला का दर्शन होता है ।

महापुरुषों ने कहा है –

गह्वर श्रीराधा को घर है ।
ताकी देहु सोहिनी स्वामिनी,
यही चाह मो उर अंतर है ।।

गह्वरवन राधारानी का नित्य घर है, उनका अपना घर है । अब वे जिसे चाहें अपने घर में बुलायें, जिसे चाहें उसे अपनी अनुभूति करायें । बिना उनकी इच्छा के, बिना उनकी कृपाशक्ति के अनुभव में राधारानी नहीं आयेंगी । बरसाना नित्य लीला स्थल है, इसका क्या प्रमाण है ? इसका प्रमाण भी परम रसिक संत श्रीव्यासजीमहाराज की वाणी में दिया गया है, उन्होंने अपने एक पद में कहा

–लागी रट राधा–राधा नाम ।
ढूँढ़ फिरी वृन्दावन सगरो नन्द डिठौना श्याम ।।
कै मोहन कै खोर साँकरी कै मोहन नंदगाँव ।
व्यासदास की जीवन राधे धनि बरसानो गाँव ।। स्वयं रसिकों की वाणी से ही यह प्रमाणित है कि बरसाना नित्य लीला भूमि है, नित्य लीला स्थल है । आज भी यहाँ नित्य लीला हो रही है । अधिकारीजनों को, पात्रों को इसका अनुभव भी होता है, उनको दर्शन भी होता है ।

राधारानी सदा ही बरसाने में विराजती हैं और भक्तों की अभिलाषा को पूर्ण करती हैं, ऐसी वे करुणामयी हैं। श्रीमद्भागवत रसरूप ग्रन्थ है। इसीलिए शुकदेवजी ने इसके रस का प्रकाशन किया। रस का प्रकाशन कब होगा ? जब युगल तत्त्व का इसमें वर्णन होगा। केवल कृष्णलीला का वर्णन कर दिया, इससे भागवत की रसमयता की सिद्धि नहीं होगी। इसीलिए भागवत में राधारानी की लीला का भी वर्णन हुआ है। अब प्रश्न यह है कि शुकदेवजी ने गोपनीय रूप से क्यों राधारानी का लीला का भागवत में वर्णन किया, उन्हें स्पष्ट रूप से राधारानी का नाम लेना चाहिए था। व्यासजी महाराज का एक पद है –

परम धन राधा नाम आधार।
जाहि श्याम मुरली में गावत, सुमिरत बारम्बार।
श्रीशुक प्रकट कियो नहिं याते, जानि सार को सार॥

राधा नाम सारमयी वस्तु है, यह सबका निष्कर्ष है, सब सिद्धान्तों का सार है ।

युगल नाम श्रुति सार है राधेकृष्ण राधेकृष्ण।

समस्त वेद, उपनिषद, श्रुतियों का सार है राधा नाम । यदि ऐसा तो है तो फिर स्पष्ट रूप से राधा नाम का उल्लेख भागवत में क्यों नहीं किया गया ? इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु अधिक मूल्यवान होती है, उसको मनुष्य सड़क पर नहीं फेंकता है। वस्तु को छिपाकर ही रखा जाता है । मान लो हमारे पास कोई बहुत महामूल्यवान हीरा हो, मणि हो तो ऐसा नहीं है कि उसे हम साधारण रूप से घर में पटक देंगे । उस मणि के लिए सोने की सुन्दर सी पिटारी बनायी जाएगी । उस पिटारी को लोहे की पिटारी में रखा जायेगा फिर उस पिटारी को अलमारी में रखा जायेगा और कमरा बंद कर दिया जायेगा । इतना सँभालकर हम लोग उस मणि को रखेंगे। एक लौकिक जगत की सामान्य सी वस्तु को जब हम लोग इतना सँभालकर रखते हैं तो फिर जो राधा नाम समस्त सिद्धान्तों का सार है, निष्कर्ष है, उसको शुकदेव जी महाराज इतना स्पष्ट नहीं कह सकते हैं। इसलिए राधा नाम को भागवत में छिपाकर रख दिया कि जिन पर श्रीजी की कृपा है उनको यह मिल जायेगा और नहीं कृपा है तो नहीं मिलेगा। अब हमें न मिले तो इसका मतलब यह नहीं है कि राधा नाम का उल्लेख शुकदेवजी ने भागवत में कहीं किया ही नहीं। हम न समझें तो यह हमारी बुद्धि का दोष है। वैसे भी सनातन संस्कृति में एक आर्य मर्यादा है –

आत्मनाम गुरोर्नाम नामाति कृपणस्य च।
न नामो गृह्णीयात् ज्येष्ठा पत्य कलत्रयो॥

हमारे भारतवर्ष में पहले ऐसी मर्यादा थी कि लोग अपनी पत्नी का नाम नहीं लेते थे और यहाँ तक कि अपने बड़े पुत्र का नाम भी नहीं लेते थे । ऐसा क्यों तो इसका उत्तर है उनके सम्मान के लिए । इसी प्रकार शुकदेवजी ने राधा नाम का भागवत में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, क्यों, उनके सम्मान के लिए। जिन शुकदेव जी महाराज की ऐसी स्थिति है –

राधा श्रवण मात्रेण मूर्च्छा षाण्की भवेत्।
अतः नोच्चारितं स्पष्टं परीक्षित हितकृन् मुनिः॥

श्रवण–पथ में कभी राधा नाम चला जाता, कभी सुनने में ही आ जाता तो शुकदेवजी महाराज को छः महीने की समाधि लग जाती थी। अब जब वे परीक्षितजी को भागवतकथा–श्रवण कराने के लिए बैठे हैं, राधा नाम उच्चारण करने से ही यदि छः महीने की समाधि लग जाएगी तो फिर आगे की कथा चर्चा कौन करेगा, परीक्षित जी को कौन कथा सुनाएगा ? अतः परीक्षित जी का हित करने के लिए, उनके कल्याण के लिए स्पष्ट राधा नाम का उल्लेख भागवत में नहीं किया गया। परन्तु दशम स्कन्ध की रासपंचाध्यायी में शुकदेवजी ने स्थान–स्थान पर श्रीराधारानी के लिए कहीं 'वधू' शब्द का प्रयोग किया, कहीं 'राधसा' शब्द का प्रयोग किया, कहीं 'अनयाऽऽराधितो नूनं...' कहकर आराधित शब्द का प्रयोग किया, इस तरह उन्होंने जगह–जगह राधारानी की लीला का गान किया है ।

एक पल को भी हमारा मन संसार से अलग नहीं हटता। अगर संसार से हटेगा तो भगवान् आ जायेंगे।

परम रसरूपिणी 'श्रीभागवतजी'

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत–कथा' से संकलित

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः सद्यो
हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥

(श्रीभागवतजी १/१/२)

भागवत में जानने योग्य वस्तु का वर्णन हुआ है और एक बात हम लोगों को समझ लेना चाहिए कि संसार में जानने योग्य यदि कोई है तो वे केवल भगवान् हैं, उन्हीं को पाने की, उन्हीं को जानने की, उन्हीं को पहचानने की चेष्टा करनी चाहिए । हम लोग संसार की प्राप्ति की चेष्टा करते हैं, भगवान् की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिये । अतः वास्तविक वेद्य वस्तु भगवान् हैं, वे कैसे हैं, उनको जानने से होगा क्या, तो व्यासजी ने कहा – **"शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्"** लौकिक लाभ भी होगा और पारमार्थिक लाभ भी होगा । लौकिक लाभ कैसे होगा तो इसका उत्तर है कि जब उस परमात्मा को हम जान जायेंगे तो तीनों तापों से मुक्त हो जायेंगे । अतः लौकिक लाभ तो यह है कि जीव संसार में तीनों तापों से मुक्त हो जाएगा; जितने भी प्रकार के दुःख हैं, आधि–व्याधि हैं, क्लेश हैं, उनसे जीव मुक्त हो जायेगा तथा मरने के बाद क्या होगा तो कहते हैं कि 'शिवदं' मरने के बाद कल्याण हो जायेगा; ये दो लाभ हैं । जब इतना बड़ा लाभ भागवत को, भगवान् को जानने से होता है तो फिर हर आदमी इसको क्यों नहीं जान लेता है ? व्यासजी महाराज कहते हैं – **'कृतिभिः'** एक जन्म की साधना से भगवान् को नहीं जान पाओगे, जब अनन्तानन्त जन्मों का पुण्य–पुंज एक साथ सामने आएगा, तब यह चर्चा सुनने को मिलेगी और तब भगवान् को जानने का अवसर मिलेगा; नहीं तो भागवत को जानने में क्या परिश्रम है, कोई भी व्यक्ति बाजार में जाकर भागवत की पुस्तक को घर में रख सकता है । घर में ग्रन्थ स्थापित कर लेना बड़ी बात नहीं है । जब अनन्त जन्मों का सुकृत उदित होगा, तब जाकर जीव भगवत्प्राप्ति की चेष्टा करेगा । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा – **अति हरि कृपा जासु पर होई । पाँय देय एहि मारग सोई ॥** जब अतिशय कृपा–करुणा की वर्षा होती है, जब अनन्तानन्त जन्मों का पुण्य पुंज सामने आता है तब जीव भगवान् को पाने की, भागवत के श्रवण करने की चेष्टा करता है, नहीं तो चेष्टा भी नहीं करता है । यदि चेष्टा ही कर ली तो चेष्टा का लाभ देखो – **'शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्'** भागवत कथा श्रवण करने की मात्र इच्छा भी हो गयी, कथा सुनी नहीं केवल सुनने की इच्छा उत्पन्न हो गयी तो उस इच्छा मात्र से अविलम्ब ईश्वर उसी समय आकर हृदय में विराजमान हो जायेगा, भगवान् हृदय में आ जायेंगे और फिर यदि कथा सुन ली तब तो फिर निश्चित ही भगवान् सामने आकर अपना साक्षात्कार ही नहीं अपितु अपना आलिंगन दान भी करेंगे, अपने हृदय से लगा लेंगे जैसे गोकर्ण जी को लगाया था । अतः इस श्लोक (भागवत १/१/२) में 'अत्र' शब्द का जो तीन बार प्रयोग हुआ, तो उसका मतलब आचार्यों ने बताया है कि 'भागवत' ही परम धर्म सिखायेगी, अन्य कोई दूसरा ग्रन्थ परम धर्म नहीं सिखाएगा । भागवत के सुनने की इच्छा ही हृदय में भगवान् को विराजमान करेगी, अन्य किसी दूसरे ग्रन्थ में यह ताकत नहीं है । भागवत ही मोक्ष का त्याग सिखायेगी, अन्य किसी सत्शास्त्र में ऐसी ताकत नहीं है । इसीलिए तीन बार अत्र शब्द का प्रयोग हुआ अर्थात् यही, इसी भागवत जी में, इसी महामहिमामण्डित ग्रन्थ में भगवत्प्राप्ति का उत्कृष्टतम साधन बताया गया है, अन्यत्र ऐसा नहीं है । भागवतजी की क्या महिमा है तो व्यासजी ने कहा –

निगमकल्पतरोर्गलितंफलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

(श्रीभागवतजी १/१/२)

वेद–उपनिषदों का कल्पवृक्ष है और उस कल्पवृक्ष का पका हुआ फल है 'श्रीमद्भागवत' । व्यासजी ने फिर ये क्यों कहा – **'पिबत भागवतं'** अर्थात् इस भागवत को पियो क्योंकि फल तो पिया नहीं जाता है, खाया जाता है । तब व्यासजी महाराज ने कहा – **'शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्'**

जब से शुकदेवजीमहाराज का भागवत से स्पर्श हो गया है, इससे सम्पर्क हो गया है, तब से यह फल रसयुक्त हो गया है, परमानन्द रस इसमें आ गया है । इसलिए इस फल को खाने के लिए नहीं कहा बल्कि यह कहा कि पियो क्योंकि जो फल खाया जाता है, उसमें कुछ चीजें ऐसी भी होती हैं जो छोड़ी जाती हैं । जैसे खाने योग्य फल है आम, मनुष्य जब आम को खायेगा तो गुठली को छोड़ेगा ही, केला खायेगा तो उसका छिलका छोड़ेगा परन्तु भागवत खाया जाने वाला फल नहीं है, यह तो पीने योग्य फल है क्योंकि इसमें एक भी अंश ऐसा नहीं है जिसे छोड़ा जाये । इसलिए इसकी रसरूपता का वर्णन करते हुए कहा गया कि जितना हो सके इसका पान करना चाहिए । पिबत भागवतं रसमालयं । कब तक पियें, कोई निश्चित समय बताया कि दो–चार घंटे पियें कि दो–चार साल पियें तो व्यासजी ने कहा कि इसके पान करने की कोई निश्चित अवधि नहीं है । रसमालयं – जीवन की अंतिम श्वांस तक, मृत्यु के अवसर तक इसे पीते ही रहो ।

अतः **"पिबन्तु सद्भाग्या मा मा मुञ्चत कर्हिचित्"**

इसको कभी छोड़ना नहीं, ऐसा मत सोचना कि एक बार भागवत सुन ली, अब वही कथा बार–बार क्या सुनें ? क्योंकि यदि कथामृत से तृप्ति हो गयी तो समझ लो कि अभी हमने कथा रस को समझा नहीं । "मा मा मुञ्चत कर्हिचित्" – इसे कभी छोड़ना मत, जितना पी सकते हो उतना पियो ।

रामचरित जे सुनत अघाहीं ।
रस विशेष तिन जाना नाहीं ।।

उनको रसानुभूति नहीं हुई जिनको भागवत कथा को सुनकर तृप्ति हो गयी, जो इससे अघा गये । जिसको रसानुभूति हो जाएगी, वह फिर इस रस से अघा नहीं सकता, ऊब नहीं सकता । उसको तो जितना अधिक रस पीने को मिल जायेगा, वह पिएगा क्योंकि शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्, जब शुकदेव जी महाराज परीक्षित जी को कथा सुनाने के लिए बैठे तो किसी अन्य पुराण की चर्चा नहीं की, सीधे भागवत जी की कथा चर्चा आरम्भ की । क्योंकि तोते को यह बहुत अच्छी पहचान होती है कि कौन–सा फल सबसे अधिक मीठा है और तोता उसी फल पर चोंच मारता है जो पेड़ का सर्वाधिक मधुर फल होता है । जो फल तोता खा लेता है, उसके बारे में हम लोग भी यही कहते हैं कि यह तोता का खाया हुआ फल है इसलिए बहुत मीठा होगा । शुकमुखाद – शुकदेवजी से इसका स्पर्श हो गया,संपर्क हो गया तब से भागवत में अतिशय मधुर रस बहने लग गया है; ऐसा दिव्य फल पृथ्वी में कहाँ से आया ? एक बार ब्रह्माजी को यह फल ठाकुर जी ने दिया, तब सत्य लोक से यह फल मृत्यु लोक में आया । अरे, इतनी ऊँचाई से फल गिरेगा तो फट नहीं जायेगा, यह कैसा फल है जो इतने ऊपर से गिरा किन्तु फटा नहीं । जैसे किसी वृक्ष के सबसे ऊपरी भाग में कोई पका हुआ फल लगा हो, वह फल जब नीचे गिरेगा तो नीचे किसी पत्ते के ऊपर गिरेगा, एक पत्ते से दूसरे पत्ते पर गिरता हुआ जब क्रम से एक–एक पत्ते पर आयेगा तो नीचे गिरने पर वह फल फटेगा नहीं । यह भागवत रूपी फल भी साक्षात् भगवान् के मुख से निकलकर सीधे मृत्युलोक में नहीं आ गया । शिष्य रूपी शाखा–प्रशाखा के पत्ते–पत्ते पर होकर यह फल मृत्युलोक में आया है । सबसे पहले भगवान् ने ब्रह्माजी को कहा, फिर ब्रह्माजी ने नारदजी को कहा, नारदजी ने व्यासजी को कहा, व्यासजी ने शुकदेवजी से कहा, शुकदेवजी ने परीक्षितजी से कहा, आगे फिर सूतजी ने शौनक जी से कहा; इस प्रकार शिष्यों के द्वारा क्रम से यह फल नीचे आया । इसलिए इस फल को कोई क्षति नहीं हुई । जैसा प्रभु–मुख से निकला, वैसा ही यहाँ जीव–जगत को प्राप्त हो गया ।

शौनक जी ने आगे सूतजी से प्रश्न किये हैं कि आप हमें सब शास्त्रों का सार सुनाइए । भगवान् देवकी–वसुदेव से क्यों प्रकट हुए, यह आप कृपा करके बताइये । इसके बाद शौनक जी ने बड़ी सुन्दर बात कही –

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः ।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥

(श्रीभागवतजी १/१/१५)

भगवद्भक्तों के द्वारा गाये हुए उन लीला चरित्रों को आप हमें सुनाइए, जो भगवद्भक्त निरन्तर भगवद् चरणों में ही विराजे रहते हैं ।

शौनक जी ने बहुत विचित्र बात यहाँ कही। उन्होंने कहा कि कोई बहुत दिनों तक गंगा तट पर रहे, गंगा जल का पान करे और स्नान करते हुए गंगा जी का सेवन करे तो बहुत दिनों के बाद पवित्रता मिलेगी किन्तु भगवद्भक्तों के तो दर्शन मात्र से ही पवित्रता प्राप्त हो जाती है । ऐसा इसलिए है क्योंकि गंगा जी भगवान् के चरणों से निकल चुकी हैं । अब वे चरणों में रहीं नहीं, चरणों से निकल चुकी हैं । हालाँकि गंगा जल है भगवान् के ही चरणों का जल परन्तु अब यह भगवान् के चरणों से अलग हो चुका है किन्तु भगवद्भक्त तो निरन्तर ही भगवान् के चरणकमलों में बैठे रहते हैं, वे अलग नहीं हुए । इसलिए शौनक जी सूत जी से कहते हैं कि भक्तों के द्वारा जो प्रभु का लीला गान हुआ है, उसे आप हम लोगों को श्रवण कराइए, जो चित्त को शुद्ध कर देगा । गंगा जी के सेवन से वह कल्याण नहीं होगा, जो भक्तों के दर्शन मात्र से हो जायेगा क्योंकि भगवान् और भक्तों का सम्बन्ध निरन्तर रहता है । गंगाजी का तो एक बार सम्बन्ध हुआ था, जब भगवान् के चरण धोये गये परन्तु चरण धुलने के बाद वह जल चरणों से अलग हो गया किन्तु भक्त तो निरन्तर ही भगवच्चरणों में बैठे रहते हैं, ये तो कभी अलग होते ही नहीं हैं । इसलिए इनके दर्शन मात्र से पवित्रता की प्राप्ति हो जाती है । इसके बाद शौनक जी ने प्रश्न किया कि धर्म क्या है, भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधामगमन के पश्चात् धर्म किसकी शरण में गया ? धर्म किसे कहते हैं, किस क्रिया का नाम धर्म है, किस विशेष कर्म का नाम धर्म है तो न किसी विशेष कर्म का नाम धर्म है और न ही किसी विशेष क्रिया का नाम धर्म है । धर्म फिर किसे कहते हैं तो सूतजी ने कहा –

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्म क्या है ? किसको धर्म कहा गया ? हमारी कोई भी क्रिया धर्म बन सकती है, धर्म नहीं परम धर्म बन सकती है । हमारा जो कर्म भगवान् के चरणों में प्रेम उत्पन्न कर दे, बस वही परम धर्म है, उसी को सबसे बड़ा धर्म कहा गया है, वह कर्म कैसे होगा तो इस श्लोक की आगे की पंक्ति में कहा गया –

अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥

(श्रीभागवतजी १/२/६)

उस कर्म में कोई हेतु नहीं होगा, कोई निमित्त नहीं होगा, कामना नहीं होगी । हम लोग भगवान् का भजन तो करते हैं लेकिन भगवान् से संसार को पाने की प्रार्थना करते हैं । इस तरह भगवान् तो साधन हो गये और संसार साध्य हो गया । जब साधन भी भगवान् हो जायेंगे और साध्य भी भगवान् हो जायेंगे तब वही कर्म धर्म हो जायेगा । अहैतुक्यप्रतिहता – जिस कर्म में कामना नहीं होती है, वह कर्म अक्षय हो जाता है, कभी व्यवहित नहीं होता, कभी बाधित नहीं होता है । इसीलिए तुलसीदासजी ने कहा – हे राम जी ! मैं आपसे केवल एक ही वस्तु चाहता हूँ । मैं आपसे एक ही वस्तु माँगता हूँ –

यह विनती रघुवीर गुँसाई ।
हेतु रहित अनुराग राम पद, बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥

कभी भी मन में कामना न आये और आपके चरणों में प्रेम बढ़ता ही रहे, रुके नहीं ।

चहौं न सुगति सुमति सम्पति कछु,
रिधि सिधि विपुल बड़ाई ।

न मुझे सुगति चाहिए, न सुमति(अच्छी बुद्धि) चाहिए, न सम्पत्ति चाहिए, ऋद्धि–सिद्धि, मान–बड़ाई आदि भी नहीं चाहिए; आपके चरणों में मेरा प्रेम बढ़ता रहे, बस यही मेरी अभिलाषा है, इसी का नाम परम धर्म है । इस परम धर्म का फल क्या है ?

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥

(श्रीभागवतजी १/२/९)

धर्म का फल पैसा नहीं है। मान लो कि धर्म किया और पैसा आ गया जैसे कि भागवत की कथा हो रही है तो उसमें जो भी द्रव्य (धन) आया तो यद्यपि धर्म का फल धन नहीं है परन्तु जो धन आ गया, उसका क्या किया जाये ?

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥

(श्रीभागवतजी १/२/१०)

उस धन का फल केवल जीविकामात्र है, बाकी जितना भी धन है तो धन का एकमात्र फल धर्म ही है। यदि द्रव्य आ गया तो क्या उसको फेंक दें, नहीं; उसे फेंको नहीं अपतु किसी धर्म के कार्य में लगा दो। अपने पास उतना ही धन रहे जितना कि प्राणवृत्ति से जीवनयापन होता रहे। अब यदि हम जीवनयापन का लक्ष्य बना रहे हैं कि उतना धन तो आवश्यक है जितने में जीवन का निर्वाह होता रहे तो फिर उस जीवन का फल क्या है तो जीवन का फल है – **"जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा"**

जीवन का फल यही है कि अद्वय तत्त्व को जानने की इच्छा मन में हो जाये। कौन–सा तत्त्व ? अद्वय तत्त्व । वह अद्वय तत्त्व क्या है ?

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

(श्रीभागवतजी १/२/११)

तत्त्वज्ञ लोगों में कोई उसे ब्रह्म कहता है, कोई उसे परमात्मा कहता है और कोई भगवान् कहता है।

अब जैसे एक ही आदमी है तो किसी का वह चाचा है, किसी का मामा है, किसी का भाई है । कोई स्त्री है तो वह आदमी उसका पति है । उसी प्रकार वह अद्वय वस्तु है तो एक ही परन्तु जो ज्ञानी हैं, वे उसे ब्रह्म कहते हैं, योगी उसे परमात्मा कहते हैं और भक्त उसे भगवान् कहते हैं। तत्त्व तो तीनों एक ही है लेकिन भक्तों का जो ध्येय है, भक्तों के जो सेव्य हैं, वे तो केवल श्रीभगवान् ही हैं ।

'मान मन्दिर कला अकादमी' की प्रस्तुति–रंगीली होली नाटिक

हर वर्ष की भाँति इस वर्ष भी रंगीली होली के अवसर पर 'मान मन्दिरकला अकादमी' द्वारा रस मंडप, गह्वरवन बरसाना में 'श्री वृषभानुपुर शतक' एवं 'श्रीराधासुधानिधि' रस ग्रंथों से उद्धृत श्रीलाडली–लालजू की अनुपम रसमाधुर्यमयी लीलाओं की दिव्य प्रस्तुति की गयी | निर्देशन एवं पटकथा लेखन श्री दिलीप मेहरा जी (मुंबई) द्वारा किया गया, मानमन्दिर के साधक एवं साधिकाओं ने नाटिका में अभिनय किया | इस अनुपम एवं रसमयी प्रस्तुति को दर्शकों ने बहुत सराहा |

परमाराध्य 'श्रीकृष्णावतार'

श्रीमुरलिकाजी द्वारा कथित 'श्रीभागवत–कथा' से संकलित

शौनकजी ने सूतजी से भगवान् के अवतारों के विषय में प्रश्न किया कि प्रभु के अवतार कितने हैं, क्यों वे अवतार लेते हैं ? शौनकजी के प्रश्न करने पर सूतजी महाराज ने कहा कि यों तो भगवान् के अनन्त अवतार हैं – **अवतारा ह्यसंख्येया** – असंख्य अवतार हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती किन्तु फिर भी शास्त्रों में कुछ अवतार तो बताये गये हैं। भगवान् के मुख्य चौबीस अवतार हैं। अब यहाँ मन में प्रायः यह शंका होती है कि भगवान् के अवतार तो बहुत हैं परन्तु हम किस अवतार को मानें। बहुत से लोग बहुधा ऐसा प्रश्न करते हैं कि राम बड़े हैं कि कृष्ण, शक्ति की उपासना की जाए अथवा शिवोपासना की जाए। कौन–से देवता की उपासना की जाए ? भक्तमाल के टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने बहुत उत्तम बात लिखी – **जिते अवतार सुखसागर न पारावार,**
करैं विस्तार लीला जीवन उधार कौं।

भगवान् के जितने भी अवतार हुए हैं, सभी अवतार केवल लोक–कल्याण के लिए, जीवों को भवसागर के पार लगाने के लिए ही हुए हैं। अब यदि कहा जाये कि अवतार हुए तो हैं परन्तु हम किस अवतार को मानें। रामजी का अवतार बड़ा है अथवा श्रीकृष्ण के रूप में जब प्रभु आये, वह अवतार बड़ा है; कौन–से अवतार को हम अधिक मानें तो प्रियादासजी कहते हैं –

जाही रूप मांझ मन लागै जाको पागै तहीं।

भगवान् के जिस रूप में अधिक मन लगता हो या जिस रूप में मन लगाने पर खूब आनन्द मिलता हो, भगवान् के उसी रूप को भजना चाहिए; ऐसा कोई भेद नहीं है कि रामजी को भजो अथवा श्रीकृष्ण को ही भजो या देवी माता को भजो या शिवजी को ही भजो; जिस रूप में मनोयोग ज्यादा हो जाए, जिसमें खूब आनन्द मिले, उसी रूप में मन लगाना चाहिए। फिर प्रश्न हुआ कि कहीं ऐसा तो नहीं कि रामजी का अवतार नित्य अवतार न हो अथवा कृष्ण का अवतार नित्य अवतार न हो; इसके उत्तर में श्रीप्रियादासजीमहाराज कहते हैं –

सब ही हैं नित्त, ध्यान करत प्रकाशैं चित्त।

चाहे रामावतार हो, चाहे कृष्णावतार हो, चाहे मत्स्यावतार हो अथवा वाराहावतार हो, जितने भी अवतार हैं, ये सभी नित्य हैं लेकिन होता यह है कि हम लोग भगवान् के अवतारों की उपेक्षा कर देते हैं और साम्प्रदायिक संकीर्णता में फँसकर भेदभाव करते हैं कि तुम रामानन्दी हो, तुम अमुक सम्प्रदाय के हो । इससे अपराध होता है जबकि भगवान् एक ही हैं केवल उनको पाने के भिन्न–भिन्न मार्ग हैं । जिस मार्ग में मन अधिक अनुरक्त हो जाये, जिस मार्ग से सम्बद्ध होने पर अधिक आनन्द की अनुभूति हो, बस उसी मार्ग को परिपक्वता के साथ पकड़ लेना चाहिए । किन्तु फिर भी कोई एक मूल अवतार तो होगा । अतः भागवत में मूल अवतार कृष्णावतार को बताया गया है ।

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

भगवान् तो श्रीकृष्ण ही हैं । अन्य जितने भी अवतार हैं, वे उनके अंश से उत्पन्न हुए हैं । बहुत से लोग आक्षेप करते हैं कि महाविष्णु हैं मूल रूप, उनके अंश से कृष्ण उत्पन्न हुए हैं । किन्तु ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि भागवतजी का भी यही मत है, ब्रह्माजी ने भी यही कहा है, श्रीमन्महाप्रभुजी ने भी यही माना है – "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" श्रीमहाप्रभु जी ने इस श्लोक का बड़ा विलक्षण अर्थ किया है। यहाँ शुकदेवजी ने कहा – "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" अर्थात् कृष्ण साक्षात् भगवान् हैं ।

दो चीजें होती हैं – एक होता है अनुवाद और दूसरा होता है विधेय। यह नियम है कि पहले अनुवाद को कहा जाता है, पीछे विधेय को कहा जाता है। ज्ञात वस्तु को अनुवाद कहते हैं और अज्ञात वस्तु को विधेय कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि यह ब्राह्मण विद्वान् है। यहाँ जो ब्राह्मण है, वह तो अनुवाद है क्योंकि हम जानते हैं कि यह ब्राह्मण है। ब्राह्मण के जो चिह्न हैं यज्ञोपवीत, तिलक आदि तो इसने यज्ञोपवीत धारण किया है, तिलक धारण

किया है, अतः मनुष्य उसे देखकर पहचान जाएगा कि यह व्यक्ति ब्राह्मण है, बताने की आवश्यकता नहीं है किन्तु विधेय तत्त्व अज्ञात होता है, उसे बिना बताये कोई जान नहीं सकता। अब जैसे कोई ब्राह्मण विद्वान् है तो जब तक वह अपनी विद्वत्ता का परिचय नहीं देगा, तब तक कोई नहीं जान सकता कि वह विद्वान् है। कोई ब्राह्मण है, यह बात तो देखकर जानी जा सकती है किन्तु वह विद्वान् है, यह बात देखकर नहीं जानी जा सकती है जब तक कि वह अपनी विद्वत्ता का परिचय न दे। अतः पहले अनुवाद कहा जाता है, पीछे विधेय कहा जाता है अर्थात् जिस चीज को हम जानते हैं उसे पहले कहें और जो चीज नहीं जानी गयी है, उसे पीछे कहें। इस तरह **"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"** – इस चरण में 'कृष्ण' शब्द अनुवाद है और 'भगवान्' शब्द विधेय है। जैसे किसी मंदिर में गये तो वहाँ एक ओर रामजी खड़े हैं तथा दूसरी ओर श्रीकृष्ण खड़े हैं। श्रीकृष्ण के स्वरूप को हम देखकर ही जान जायेंगे कि जिनके हाथ में मुरली है, वे तो श्रीकृष्ण हैं तथा जिनके हाथ में धनुष है, वे श्रीराम हैं; क्योंकि स्वरूप ज्ञात वस्तु है तथा वे भगवान् हैं, यह अज्ञात वस्तु है, अतः यह बात पीछे रखी जाएगी। इसीलिए भागवत में कहा गया – कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् अर्थात् कृष्ण ही भगवान् हैं। यदि ऐसा होता कि भगवान् कोई और हैं तथा कृष्ण अंश हैं तो सूतजी महाराज कहते – "स्वयम् भगवान् कृष्णस्तु" पहले भगवान् कहते, पीछे कृष्ण कहते; परन्तु ऐसा नियम नहीं है, पहले भगवान् नहीं कह सकते, पहले अनुवाद रखना पड़ेगा, पीछे विधेय रखना पड़ेगा। इसलिए सूतजी ने कहा – "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।" कृष्ण ही भगवान् हैं, अतः महाविष्णु भी भगवान् के ही एक अवतार हैं, भगवान् से उत्पन्न हुए हैं। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि महाविष्णु के अवतार श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण के अवतार महाविष्णु हैं, फिर आगे उनसे अन्य अवतारों का प्राकट्य हुआ है क्योंकि ब्रह्माजी ने भी दशम स्कन्ध में गोपाल जी की स्तुति करते हुए कहा है – **नारायणस्त्वं**.....।

प्रभो ! आप ही नारायण हैं, 'नारायण' का अर्थ होता है – "अखिलसर्वदेहिनाम्" जिस स्वरूप में सारा संसार निवास करे, उसे नारायण कहा गया है और जो नारायण है, उसके तीन लक्षण हैं – वही आत्मा होगा, वही साक्षी होगा और वही सबका स्वामी भी होगा। इस संसार का साक्षी कौन है ? भगवान् हैं, श्रीकृष्ण हैं; वे ही सबके स्वामी हैं, वे ही सबके रक्षक हैं, वे ही सबकी आत्मा हैं। ब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण को नारायण भी कहा है। कृष्ण रूपी नारायण अलग हैं और क्षीरसागर में शयन करने वाले नारायण अलग हैं। जो मूल नारायण हैं, वे भगवान् कृष्ण हैं, उन्हीं के अंश से क्षीर सागर में शयन करने वाले नारायण का प्राकट्य हुआ है। इसलिए श्रीकृष्ण अवतार मूल अवतार है। किसी पेड़ की जड़ में यदि पानी दिया जाये तो फिर अलग से पत्ते, फल अथवा शाखा में पानी देने की आवश्यकता नहीं रहती है। इसी प्रकार मूल अवतार श्रीकृष्ण का पूजन हो गया तो फिर जितने भी देवी–देवता हैं, उन सबका पूजन अपने–आप ही हो जाता है। इसलिए भक्तों का जो ध्येय है, भक्तों के जो भगवान् हैं, वे तो श्रीकृष्ण ही हैं।

संत–संग से ही श्रीयुगल–दर्शन

श्रीमुरलिकाजी द्वारा कथित 'श्रीभागवत–कथा' से संकलित

वेदों का विभाजन, सत्तरह पुराण एवं महाभारत आदि की रचना करने के बाद भी जब व्यासजीमहाराज को संतोष नहीं हुआ तो 'देवर्षि नारद' व्यासजी के पास गये और उनसे पूछा कि आप असंतुष्ट चित्त क्यों दिखायी देते हैं ? व्यासजी ने कहा – देवर्षे ! आप ही बताइये कि मेरा चित्त परिपूर्णता का अनुभव क्यों नहीं कर रहा है ? मेरे द्वारा ऐसी कौन–सी त्रुटि हो गयी, ऐसा कौन–सा कर्म मेरे द्वारा शेष रह गया जो मैंने अभी तक किया नहीं । नारदजी ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया – व्यासजी ! आपने सत्तरह पुराणों की रचना की, वेदों का विभाजन किया, महाभारत की भी रचना की परन्तु आपने उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान नहीं किया । इसीलिए आपका यह समस्त साहित्य सृजन व्यर्थ है । अब आप श्रीकृष्णलीला का गान कीजिये, तब आपका मन संतुष्ट होगा, परिपूर्ण होगा । नारदजी के ऐसा कहने का क्या अभिप्राय है ? जितने भी पुराणों की रचना व्यासजी ने की, क्या उनमें भगवान् के नाम की चर्चा नहीं की गयी, कृष्णचर्चा नहीं की गयी ? इसका उत्तर है कि कृष्णचर्चा पुराणों में हुई है परन्तु बहुत थोड़े अंश में की गई है । नारदजी चाहते थे कि अब व्यासजी कोई ऐसा पुराण बनायें, जिसमें कृष्णचर्चा के अतिरिक्त कोई दूसरी चर्चा ही न हो; इसीलिए श्रीमद्भागवत का प्रणयन हुआ और यह वैष्णवों का परम धन बन गई क्योंकि जिन भक्तों की बुद्धि में भगवान् ही एकमात्र धन हैं, उन भगवान् की चर्चा जिस ग्रन्थ में हुई, वही ग्रन्थ वैष्णवों का परम धन हो गया ।

नारदजी ने व्यासजी से कहा कि अब आप किसी ऐसे साहित्य की रचना कीजिये, जिसमें केवल कृष्णचर्चा ही हो । नारदजी ने अपने पूर्व जीवन का परिचय देते हुए बताया कि मैं अपने पिता ब्रह्माजी के शाप से पिछले कल्प में दासी पुत्र बना किन्तु अब मैं कृष्णगुणगान करता रहता हूँ । पूर्व जन्म में अपनी माँ का मैं इकलौता पुत्र था । मेरे पिता की मृत्यु हो चुकी थी, माता अकेली थीं और वह ब्राह्मणों के घर में सेवा किया करती थीं । जिन ब्राह्मणों के घर में वह सेवा करती थी, उनके घर में एक बार विशुद्ध संतजन पधारे, उन संतों की सेवा करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ, उस सेवा के प्रताप से मेरा हृदय शुद्ध हो गया और भक्तिधर्म जाग्रत हो गया । मैं छोटा था, अतः सदा उनके पास ही रहने की मेरी सामर्थ्य तो नहीं थी परन्तु मैं दिन में एक बार उन संतों की सीथ (जूठन) खा लेता था...

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।
एवं पृवृत्तस्य विशुद्धचेतस–
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥

(श्रीभागवतजी १/५/२५)

दिन में एक बार ही खाता था, स्वाद–बुद्धि से नहीं बल्कि इस भाव से खाता था कि ये भगवान् के भक्त हैं, भक्तों का सीथ प्रसाद मुझे मिल रहा है । उन संतों की उच्छिष्ट को खाने से मेरे समस्त कल्मष जल गये और उनके धर्म (भागवत–धर्म) में मेरी भी रुचि हो गयी । उन भक्तों का तो एक ही धर्म है कि कृष्णगुणगान किया जाए, कृष्ण–कीर्तन किया जाए, बस यही भक्तों का परम धर्म है; उन भक्तों का धर्म मेरे हृदय में जाग गया, मैं भी कृष्ण–कथा का श्रवण और कीर्तन करने लगा; ऐसा करने से मुझे परम वैराग्य प्राप्त हो गया । उन संतों ने जाते समय कृपा करके मुझे उस गुह्यतम ज्ञान का उपदेश दिया, जिसका उपदेश स्वयं भगवान् ने अपने श्रीमुख से किया है । उस उपदेश से ही जगत् के निर्माता भगवान् श्रीकृष्ण की माया के प्रभाव को मैं जान सका, जिसको जान लेने पर उनके परम पद की प्राप्ति हो जाती है ।

श्रीव्यासजी ने पूछा – नारदजी ! जब आपको ज्ञानोपदेश करने वाले महात्मागण चले गये, तब आपने क्या किया ?

श्रीनारदजी ने कहा – उस समय मैं पाँच वर्ष का बालक था और तभी एक दिन सर्प के डसने से मेरी माँ की मृत्यु

हो गयी किन्तु मैं रोया नहीं। मैंने यही समझा कि भगवान् की मेरे ऊपर बहुत बड़ी कृपा हो गयी है।

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥

(श्रीभागवतजी १/६/१०)

भक्त का यही लक्षण है कि वह भगवान् के प्रत्येक विधान में उनका मंगल ही दर्शन करता है। भगवान् चाहे उसे मृत्यु दें अथवा उसे माला धारण करायें, भक्त उस मृत्यु अथवा माला दोनों को ही भगवान् का मंगल विधान मानकर प्रसन्न रहता है। संत तुकारामजी की पत्नी बड़े ही कर्कश स्वभाव की थीं। तुकारामजी कहते थे कि यह भगवान् की बड़ी कृपा हुई जो ऐसी स्त्री मिली, नहीं तो अच्छे स्वभाव की स्त्री मिलने पर मैं उसमें आसक्त होकर भगवान् को भूल जाता। संत एकनाथजी की पत्नी परम भक्ता थीं तो वे कहते थे कि बाहर किसी संत का मिलन बड़ा दुर्लभ होता है किन्तु भगवान् ने तो मुझे घर बैठे ही सत्संग प्रदान कर दिया है। नरसीजी के पुत्र की मृत्यु हुई तो वे कहने लगे कि अच्छा हुआ, अब मैं संसार के बन्धन से मुक्त होकर सुखपूर्वक भगवान् का भजन करूँगा। परिस्थितियाँ अपने अनुकूल हैं या प्रतिकूल हैं, इससे कोई मतलब नहीं है, चाहे जैसी भी परिस्थिति है, वह भगवत्प्रदत्त है, इसलिए इसमें भी भगवान् का कोई न कोई मंगल विधान होगा। ऐसा विचारकर माँ की मृत्यु होने पर भी पाँच वर्ष के नारदजी रोये नहीं बल्कि उन्होंने सोचा कि यह तो मेरे ऊपर भगवान् की बहुत बड़ी कृपा हुई है। भक्त का यही लक्षण है । सूरदासजी ने कहा है –

कृपा श्रीलालन जू की चहिये ।
इनने करी करी सो आछी, अपने सिर पर सहिये ॥

भगवान् जो भी कर रहे हैं, अच्छा कर रहे हैं, उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन करना चाहिए। यही भगवान् की कृपा प्राप्त करने का उचित मार्ग है। मन के प्रतिकूल परिस्थिति आने पर अपना ही दोष देखना चाहिए। कोई विपत्ति आने पर हम लोग भगवान् को दोष देते हैं लेकिन भक्तिमार्ग कहता है –

अपनो दोष विचारि सखी री, इनसों कछु न कहिये ।
सूर कछू कहबे को नाहीं, श्याम शरण ह्वै रहिये ॥

यह मार्ग शिकायत करने का, भगवान् से कुछ कहने का नहीं है कि उन्होंने अच्छा नहीं किया। हमने तो अच्छा किया किन्तु भगवान् ने मेरे साथ गलत किया। हम लोग भगवान् पर दोषारोपण भी करते हैं और फिर उनकी कृपा भी चाहते हैं। कृपा तो प्रभु की हो चुकी है, उस कृपा को पहचानना है। उन्होंने अनुकूल परिस्थिति दी, वह भी कृपा है, प्रतिकूल परिस्थिति दी, वह भी कृपा है। यह विवेक नारदजी को छोटी–सी अवस्था में कैसे हो गया ? यह विवेक उन्हें संतों का उच्छिष्ट खाने से हुआ।

साधुन की जूठन नित लहिये । नित्य यदि संतों की उच्छिष्ट को श्रद्धापूर्वक लिया जाए तो भक्तिधर्म में रुचि उत्पन्न हो जाती है। गीता में भगवान् ने कहा है कि जूठा भोजन तामसी है ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस प्रियम् ॥

(श्रीगीताजी १७/१०)

इसके विपरीत भागवत में प्रमाण दिया गया कि उच्छिष्ट खाने से भक्तिधर्म की प्राप्ति हो जाएगी ।इसका समाधान यह है कि सामान्य लोगों का जूठा भोजन तामसी है किन्तु भगवद्भक्तों का जूठन महाप्रसाद है। हम जिस व्यक्ति का जूठन खायेंगे, उसके भावों का संक्रमण हमारे भीतर हो जाएगा। इसलिए संतों की जूठन खाने को ही कहा गया है, संसारियों की नहीं। संसार के लोगों का जूठन खाने पर तो सांसारिक दूषण हमारे हृदय में भी उत्पन्न हो जायेंगे। 'भगवद्भक्त' जिनके हृदय में निरन्तर भक्ति रूपी मन्दाकिनी प्रवाहित होती रहती है, ऐसे भक्तों की उच्छिष्ट को जब हम खाते हैं तो हमारे हृदय में भी भक्तों का भक्ति रूपी धर्म जाग्रत हो जायेगा। भक्तों का उच्छिष्ट सबसे बड़ी चीज है। चैतन्य चरितामृत में कहा गया है –

विषयीर अन्न खाइले मलिन हय मन ।
मलिन मन हइके नाहे कृष्नेर स्मरण ॥

विषयी मनुष्यों की जूठन खाने से चित्त दूषित हो जायेगा, फिर कृष्ण स्मरण नहीं हो पायेगा। भक्तों का जूठन खाने से जैसे उन भक्तों का चित्त अविच्छिन्न रूप से भगवान्

में लगा रहता है, वैसे ही हमारी चित्तवृत्ति भी तैलधारावत् भगवान् में अपने–आप लग जाएगी, लगानी नहीं पड़ेगी। भक्तों की सीथ प्रसादी खाने से भागवतधर्म की प्राप्ति हुई, इसके भक्तमाल में अनेकों प्रमाण हैं ।

नारदजी कहते हैं कि भक्तों की सीथ प्रसादी खाने से मेरे हृदय में भागवतधर्म जाग्रत हो गया । उन भक्तों का धर्म था निरन्तर कीर्तन करना, अतः अब मैं भी निरन्तर कृष्ण–गुणगान करने लगा । माँ की मृत्यु होने पर मैं उत्तर दिशा की ओर चला गया । वहाँ निर्जन वन में एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर मैं हृदय में भगवान् का ध्यान करने लगा। मेरे हृदय में भगवान् का स्फुरण हुआ ।

भगवान् का दर्शन कई प्रकार से होता है । एक धारणा का दर्शन होता है, एक ध्यान का दर्शन होता है, एक समाधि का दर्शन होता है, एक स्वप्न में दर्शन होता है, एक स्फुरण का दर्शन और एक साक्षात्कार होता है । नारदजी महाराज को यहाँ स्फूर्ति मात्र ही हुई। स्फूर्ति में भगवान् एकदम से आये, एक झलक दिखायी और गायब हो गये । इसको स्फूर्ति कहा जाता है । इसमें रूप सामने स्थिर नहीं रहता है । भगवान् आये और आकर अन्तर्हित हो गये। अब तो नारदजी और अधिक व्याकुल हो गये। दर्शन न होता तो कोई बात नहीं थी पर जिसको एक बार भगवान् का दर्शन हो गया, वह क्या भगवान् को देखे बिना रह पायेगा ? नारदजी का चित्त भगवान् को पाने के लिए और व्यग्र हो गया । उस समय आकाशवाणी हुई – 'वत्स ! खेद मत करो, इस जन्म में नहीं, अब तो अगले जन्म में तुम्हें मेरा दर्शन होगा । '

अब प्रश्न उठता है कि हम भक्ति कर रहे हैं परन्तु इस जन्म में जब भगवान् मिलेंगे ही नहीं, नारदजी की तरह कहीं भगवान् ने हमसे भी कह दिया कि अगले जन्म में तुम्हें मेरा दर्शन होगा तो इससे तो निराशा उत्पन्न हो जाएगी । जब इस जन्म में दर्शन ही नहीं होगा फिर जीव साधन ही क्यों करेगा ? इसका उत्तर यह है कि यह घटना सतयुग की है । नारदजी सतयुग के भक्त हैं । सतयुग में भगवान् ने उनसे कहा कि इस जन्म में नहीं, अगले जन्म में तुम्हें मेरा दर्शन होगा किन्तु कलिकाल में एक भी भक्त ऐसा नहीं हुआ, जिसको भगवान् ने कहा हो कि अगले जन्म में तुझे मेरा दर्शन होगा। कलियुग के भक्त से तो भगवान् ने कहा कि तू अभी, इसी क्षण मेरा दर्शन कर ले, मैं तो सदा–सर्वदा तेरे साथ खेलूँगा। कलिकाल में भगवान् का जीवों के ऊपर विशेष अनुग्रह है, विशेष कृपा है । इसलिए हताश होने की बात नहीं है। नारदजी को तो अगले जन्म में अपने पार्षद रूप की, नारद रूप की प्राप्ति हो गयी । ठाकुरजी ने उन्हें दिव्य वीणा प्रदान की, जिस पर वे निरन्तर हरि गुणगान करते रहते हैं। इसीलिए नारदजी ने व्यासजी से कहा कि माया मेरे पास फटक तक नहीं सकती । माया मेरा स्पर्श नहीं कर सकती क्योंकि मैं निरन्तर कृष्ण नाम संकीर्तन करता रहता हूँ । नाम ग्रहणकारी के पास माया नहीं आ सकती है। इस तरह नारदजी व्यासजी को प्रेरणा देकर चले गये ...।

असली औषधि 'गौ–आराधना'

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत–कथा' (फरवरी १९८५) से संकलित

जिस समय छः कोस के शरीर वाली पूतना ब्रजभूमि पर गिरी तो बालकृष्णलाल निर्भय होकर उसके स्तनों पर खेलने लगे ... गोपियाँ दौड़कर वहाँ पहुँचीं और बालकृष्ण को उठा लिया । इसके बाद यशोदा और रोहिणी ने गोपियों के साथ गाय की पूँछ को बालक कृष्ण के ऊपर घुमाया क्योंकि गाय की पूँछ में समस्त देवताओं का निवास है। उन्होंने गोमूत्र से कन्हैया को स्नान कराया फिर उनके अंगों में गो–रज और गोबर लगाकर कवच से भगवान् के नामों को पढ़कर स्वयं भगवान् की रक्षा करने लगीं । इसका भाव यह है कि भगवान् का नाम तो स्वयं भगवान् की भी रक्षा करता है तो फिर हम लोगों की रक्षा क्यों नहीं करेगा ? इसलिए सभी लोगों को चाहिए कि अपने घरों में नित्यप्रति भगवान् के नामों का कीर्तन करें। यदि निष्ठा से नाम कीर्तन करोगे तो कोई संकट नहीं आयेगा। इस प्रकार गोपियों ने बालकृष्ण के सभी अंगों की भगवन्नाम के द्वारा रक्षा की। ऐसा क्यों किया ? इसका उत्तर वे स्वयं देतीं हैं –

सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ।

(श्रीभागवतजी १०/६/२९)

सभी अनिष्ट भगवान् विष्णु का नाम उच्चारण करने से भयभीत होकर नष्ट हो जाएँ । इसलिए सभी लोग कृष्ण नाम लो, तुम्हारी समस्त ग्रह–बाधायें नष्ट हो जाएँगी। गोपियों द्वारा बालकृष्ण की रक्षा करने के लिए जो कवच का पाठ किया गया, उसका सारांश, उसका मूल भागवत के श्लोक (१०/६/२९) में ही उन्होंने कह दिया है कि समस्त उत्पात भगवन्नाम के उच्चारण से नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जोर–जोर से भगवान् का नाम लो और जितने भी उत्पात हैं – डाकिनी, राक्षसी, भूत–प्रेत, पिशाच,यक्ष, राक्षस, वृद्ध ग्रह, बालग्रह आदि ये सभी नष्ट हो जायेंगे ।

ब्रज के रसिक संत नवग्रह आदि को नहीं मानते हैं, इनका अस्तित्त्व तो मानते हैं किन्तु जैसा कि गोपियों द्वारा पाठ किये गये कवच में कहा गया है –

सर्वग्रहभयङ्करः (श्रीभागवतजी १०/६/२६)

भगवान् सभी ग्रहों के लिए भयंकर हैं, उनका नाम रक्षा करे, वे भगवान् तभी रक्षा करेंगे जब हम उनका नाम लेंगे; चाहे शनि चढ़े, चाहे राहु चढ़े, चाहे केतु चढ़े; ये नौ ग्रह हैं जो हमेशा मनुष्य के ऊपर चढ़ते–उतरते रहते हैं, इनसे रक्षा का उपाय एकमात्र 'भगवन्नाम' है, वैष्णवों को चाहिए कि ग्रहों की बाधा से बचने के लिए 'भगवन्नाम' के अतिरिक्त दूसरे साधनों के चक्कर में न पड़े । यदि पंडित के पास ग्रह–बाधा को दूर कराने के लिए जाओगे तो आजकल कोई भी पंडित ठीक से कार्य नहीं करता है । ऐसा देखने में आता है कि बड़े–बड़े भागवत सप्ताह कथा के कार्यक्रम में एक सौ आठ पंडित बैठते हैं, दक्षिणा पूरी ले लेते हैं किन्तु ठीक से मूल पाठ भी नहीं करते हैं; इसीलिए आज हमारा समाज तेजहीन हो गया है। आज ब्राह्मणों में तेज नहीं रह गया है क्योंकि उनमें बेईमानी आ गयी है। ग्रह–बाधा दूर करने के लिए तुम पंडित को पैसा दे दोगे तो सब पैसा वे रख लेंगे किन्तु ठीक से जप नहीं करेंगे। इसलिए समस्त ग्रहों को शान्त करने का सबसे बढ़िया उपाय है 'भगवन्नाम' । चाहे राहु चढ़े चाहे केतु चढ़े, बैठकर दिन–रात अखण्ड कीर्तन करो, यह शास्त्र की बात है। इसलिए ब्रज रसिकों ने लिखा है –

हरिदासन के निकट न आवें, प्रेत पितर ग्रह लेश ।

ब्रजरसिक कहते हैं कि हम लोग ग्रह आदि की पूजा नहीं करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि आजकल न मन्त्र शुद्ध रहे, न व्यक्ति शुद्ध रहे; इसलिए स्वयं बैठकर भगवन्नाम कीर्तन करो ।

स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च ये ।
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ॥

(श्रीभागवतजी १०/६/२९)

जितने भी उत्पात ग्रह आदि हैं, अनन्य निष्ठा यही है कि 'भगवन्नाम' लो, ये ग्रहादि जितने भी अनिष्ट हैं, सब भाग जायेंगे; इसलिए गाँठ बाँध लो, डटकर कीर्तन करो –

जय श्रीराधे जय नन्दनन्दन ।

जय श्री श्यामा नैनन अंजन ।।
जय बरसानो जय गह्वर वन ।
जय वृन्दावन जय गोवर्धन ।।

भागवत सप्ताह में यही सीखने की बात है कि जो गोपीजन कर रहीं हैं, वही हम लोग भी करें । श्रीशुकदेवजी कहते हैं – इस प्रकार ब्रजगोपिकाओं ने श्रीकृष्ण के अनिष्टों–अरिष्टों की शान्ति 'भगवन्नाम' के द्वारा की, इसके बाद यशोदा मैया ने अपने लाला को स्तनपान कराया । तब तक नन्दबाबा अपने साथी गोपों के साथ मथुरा से गोकुल में आ गये । पूतना के भयंकर शरीर को देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये । ब्रजवासियों ने कुल्हाड़ी से पूतना के विशाल शरीर को टुकड़े–टुकड़े करके लकड़ियों पर रखकर जला दिया । जब उसका शरीर जलने लगा तब उसके धुएँ से अगर की सुगंध आ रही थी क्योंकि भगवान् ने उसका स्तनपान किया था । पूतना एक राक्षसी थी, बच्चों को मारकर वह उनका खून पी जाती थी । भगवान् को भी उसने मार डालने की इच्छा से स्तन पिलाया था फिर भी उसे परम गति मिली, फिर जो लोग प्रेम से उनकी पूजा करते हैं और उनको प्रिय लगने वाली वस्तुएँ समर्पित करते हैं, उनका तो कहना ही क्या है । जिन माताओं और गायों ने ब्रह्ममोह लीला में प्रभु को प्रेम से अपना दूध पिलाया, वे क्यों न प्रभु को पायेंगी ?

जो मनुष्य श्रद्धा से इस कथा को सुनता है, उसे भगवान् के प्रति प्रेम की प्राप्ति होती है । गर्गसंहिता में पूतना के पूर्व जन्म की कथा लिखी है – राजा बलि की कन्या थी 'रत्नमाला' । जब छोटे से 'वामन भगवान्' राजा बलि की यज्ञशाला में आये तो 'रत्नमाला' उनको देखकर सोचने लगी कि ऐसा बालक मुझे मिले तो मैं उसको गोद में बैठाकर स्तनपान कराऊँगी, इस प्रकार का वात्सल्य भाव उसके हृदय में आ गया किन्तु जब 'वामन भगवान्' ने अपने पाँव बढ़ाकर बलि के त्रिलोकी का राज्य छीन लिया और उन्हें वरुणपाश में बाँध दिया तो वह मन में सोचने लगी कि यदि मेरा बालक ऐसा होता तो मैं उसे जहर पिला देती । प्रभु अंतर्यामी हैं, उसके मन की बात जानकर बोले कि तेरी दोनों ही कामनाएँ पूरी होंगी, तू मुझे स्तनपान भी कराएगी और जहर भी पिलाएगी ।

इस कथा का अभिप्राय यही है कि जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि होती है । इसलिए हम लोगों को सदा पवित्र भावना ही करनी चाहिए । राग–द्वेष नहीं करना चाहिए नहीं तो ऐसे व्यक्ति को पूतना ही बनना पड़ेगा चाहे कितनी ही भागवत सप्ताह सुन ले । मन के संकल्प को सदा शुद्ध रखो, प्रेममय रखो । छोटी–छोटी बातों पर खीझोगे, रीझोगे तो फिर पूतना बनने की स्थिति आ जाएगी । सदा प्रसन्न रहो, इस कथा से यही शिक्षा मिलती है । थोड़ा भी हम किसी से चिढ़ रहे हैं, अशुभ सोच रहे हैं तो उसका फल अशुभ ही मिलेगा । इसलिए संकल्प अच्छा रखो । यही संकल्प करो कि सभी को दूध पिलाओ, सभी का मंगल चाहो और जो चिढ़ने का, द्वेष का संकल्प है, वह मत रखो । यह विचार करो कि रत्नमाला 'वामन भगवान्' के प्रति वात्सल्य भाव आने के कारण अगले जन्म में यशोदाजी की तरह बनने जा रही थी और द्वेष करने के कारण उसको पूतना बनना पड़ गया; इसलिए सहनशील बनो । रत्नमाला की माँ 'विन्ध्यावलीजी' पूज्य मानीं गयीं क्योंकि उन्होंने कहा कि भगवान् ही सारे संसार के स्वामी हैं, अगर उन्होंने मेरे पति से त्रिलोकी का राज्य छीन लिया तो क्या हुआ, इस संसार के बनाने, पालन करने और संहार करने वाले तो भगवान् ही हैं, यह चराचर सृष्टि उन्हीं की है । किन्तु इसके विपरीत रत्नमाला 'वामन भगवान्' द्वारा त्रिलोकी का राज्य छीनने से चिढ़ गयी, इसीलिए पूतना बनी । अतः चिढ़ने वाली, द्वेष करने वाली स्त्रियाँ पूतना ही हैं ।

क्रोध, ईर्ष्या, मात्सर्य, द्वेष इत्यादि विकार जीव के अन्तःकरण में हर समय जलन पैदा करते रहते हैं; इन भयंकर मानसिक रोगों से बचने के लिए सतत् सत्संग, सेवा व आराधना करनी चाहिए, यही सबसे सरल–सरस उपाय है, अन्य कठिन साधनों (योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत इत्यादि) में इतना सम्यक् लाभ नहीं होता है जितना कि सत्संगमय संकीर्तन (कथा–कीर्तन) से होता है।

भगवान् की कृपा हम लोग समझ नहीं पाते, इसीलिए भगवान् से विमुख हैं ।

सौम्य–स्वभाव से सहज–भक्ति

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत–कथा' (फरवरी १९८५) से संकलित

कालियनाग ने भगवान् कृष्ण के सामने एक बहुत अच्छी बात कही, जो मनोविज्ञान की दृष्टि से भी बहुत ऊँची है – **वयं खलाः .....।**

(श्रीभागवतजी १०/१६/५६)

यह स्वभाव ही तो हठ है, जिसका राजस स्वभाव है, वह राजस हठ करेगा, जिसका तामस स्वभाव है, वह तामस हठ करेगा। जिसका सात्त्विक स्वभाव है, वह सात्त्विक हठ करेगा। जिसमें हठ नहीं है, उसके अन्दर निर्गुणा भक्ति है। हठ के अनेक रूप होते हैं – राजा के पास राज–हठ होता है, बच्चों के पास बाल–हठ होता है, स्त्रियों के पास स्त्री– हठ होता है। इसीलिए साधुओं के लिए 'राजा और स्त्री' का दर्शन निषिद्ध माना गया है, इनके अन्दर हठ अधिक होता है, इनकी अधिक निंदा भी इसीलिए की गयी है, हठ के कारण इनका स्वभाव बहुत खराब होता है। स्वभाव ही माया है, जिसका स्वभाव बदल गया, उसने तो माया को जीत लिया।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं – जब कालियनाग ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति कर ली तो उन्होंने उससे कहा कि कालिय ! अब तुम्हें यहाँ नहीं रहना चाहिए, तुम अपने परिवार के साथ समुद्र में चले जाओ। अब यहाँ मेरे ग्वालबाल खेलेंगे तथा वे और गायें अब यमुनाजल का उपभोग करेंगे।

जो मनुष्य दोनों समय तुमको दी हुई मेरी इस आज्ञा का स्मरण तथा कीर्तन अथवा पाठ करेंगे, उनको साँपों से कभी भय नहीं होगा। मैं जानता हूँ कि तुम गरुड़ के भय से रमणक द्वीप छोड़कर इस दह में रहने लगे थे। अब तुम्हारा शरीर मेरे चरणचिह्नों से अंकित हो गया है, इसलिए अब गरुड़ तुम्हें नहीं खायेंगे।

भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर कालियनाग और उसकी पत्नियों ने आनन्द से भरकर बड़े आदर से उनकी पूजा की। नागपत्नियों ने प्रभु को मणियाँ लाकर भेंट कीं। इसके बाद कालियनाग अपनी पत्नियों, पुत्रों और बंधु–बांधवों के साथ समुद्र में स्थित रमणक द्वीप में चला गया।

इस कथा के पीछे कालियनाग के पूर्व जन्म की कथा और उससे जुड़ी हुई महत्वपूर्ण शिक्षा है – दो ऋषि थे, एक का नाम 'वेदशिरा' और दूसरे का नाम 'अश्वशिरा' था। वेदशिराजी किसी वन में आश्रम बनाकर भजन करते थे; एक दिन उधर घूमते–घूमते अश्वशिरा ऋषि आये और भजन करने लगे। (इस कथा में एक महत्वपूर्ण शिक्षा है कि विरक्तों में भी कैसे गड़बड़ी हो जाती है)। अश्वशिरा मुनि को देखकर वेदशिराजी बोले कि तुम मेरी कुटिया के पास क्यों आ गये, मैं यहाँ भजन करता हूँ। तुम किसी दूसरे वन में चले जाओ। अश्वशिरा मुनि बोले – अरे, तुम विरक्त हो चुके हो और अभी भी तुम्हारे मन में मेरी कुटिया, मेरा आश्रम, तुम्हारा आश्रम, मेरी जमीन–तुम्हारी जमीन आदि का भेद बना हुआ है।

उन दोनों में आपस में कलह बहुत बढ़ गया। कलह बढ़ जाने पर अश्वशिरा मुनि ने वेदशिराजी को शाप दे दिया – तुम विरक्त होकर भी मेरी कुटिया, मेरा वन आदि का भेद लेकर व्यर्थ ही सर्प की तरह फुफकारते हुए क्रोध करते हो, इसलिए सर्प बन जाओ। अरे, मैं तेरे यहाँ आया हूँ तो तेरा अतिथि हूँ, मैं यहाँ प्रभु का नाम ही तो लूँगा, तपस्या ही तो करूँगा, तुम्हारे कोई स्त्री–पुत्र नहीं हैं फिर भी मेरा–तेरा में फँसे हो और सर्प की तरह फुफकारते हो तो तुम्हें सर्प ही बनना पड़ेगा। अश्वशिरा के शाप देने से वेदशिरा और भी अधिक क्रोधित हो गये और बोले – जब से तुम यहाँ आये हो तब से कौआ की तरह काँव–काँव कर रहे हो, इसलिए तुम भी कौआ बन जाओ। इस तरह एक–दूसरे को शाप देने के कारण वेदशिराजी तो कालियनाग बने और अश्वशिराजी काक रूप से कागभुशुण्डिजी बन गये। इस कथा से यह शिक्षा मिलती है कि विरक्त होकर भी मनुष्य को आश्रम के कलह में नहीं पड़ना चाहिए। यह बड़े दुःख की बात है कि आश्रमों में रहने वाले हम जैसे लोग कलह करते हैं, लड़ते हैं और आश्रम के कारण मुकदमे भी चलते हैं; यह तो सर्पयोनि को प्राप्त होने का उपाय है। इसीलिए शास्त्र

में यति–सन्यासी अथवा विरक्त के लिए आश्रम का निषेध किया गया है क्योंकि इसके कारण कलह होने की सम्भावना बनी रहती है और कलह होने पर सर्प की योनि प्राप्त करने का रास्ता तैयार हो जाता है ।

राजा परीक्षित ने पूछा – भगवन् ! कालियनाग ने अपने निवासस्थान रमणक द्वीप को क्यों छोड़ा था ?

श्रीशुकदेवजी ने कहा – गरुड़जी पूर्वकाल में सर्पों को बहुत खाया करते थे, इसलिए ब्रह्माजी ने सर्पों से कहा कि तुम लोग प्रत्येक अमावस्या को एक वृक्ष के नीचे गरुड़जी को एक सर्प की भेंट दे आया करो । 'कालियनाग' कद्रू का पुत्र था। कद्रू और विनता दो बहनें थीं, जिनका विवाह कश्यप ऋषि के साथ हुआ था । 'गरुड़जी' विनता के पुत्र थे । प्रत्येक अमावस्या को सारे सर्प गरुड़जी को अपना–अपना भाग देते रहते थे किन्तु 'कालिय' बड़ा ही उद्दण्ड था, वह गरुड़जी को बलि देना तो दूर, दूसरे साँप जो गरुड़जी को बलि देते, उसे भी खा लेता था। गरुड़जी जब क्रोधित होकर उस पर आक्रमण करने के लिए आये तब उसने गरुड़जी को दाँतों से डस लिया; ऐसा करने पर गरुड़जी ने अपने बायें पंख से कालियनाग पर जोर से प्रहार किया तो वह घायल हो गया और वहाँ से भागा, उसको पता था कि वृन्दावन में यमुनाजी के कुण्ड में गरुड़जी नहीं आ सकते थे तो वह वहीं आकर रहने लगा था । प्राचीनकाल में सौभरि नामक एक ऋषि थे, वे इसी स्थान पर तपस्या करते थे। एक दिन गरुड़जी वहाँ आये और मछली खाने लगे तो सौभरि ऋषि ने गरुड़जी को शाप दे दिया कि यदि गरुड़ फिर कभी यहाँ आकर मछली खायेंगे तो प्राणरहित हो जायेंगे; इस शाप के कारण गरुड़जी उस स्थान पर फिर कभी नहीं गये ।

इस कथा में भी एक शिक्षा छिपी हुई है । आचार्यों ने लिखा है कि गरुड़जी को शाप देने के कारण उलटे ऋषि को ही अपराध लग गया । गरुड़जी को तो कोई हानि नहीं हुई, वे फिर कभी उस स्थान पर नहीं आये किन्तु सौभरि ऋषि को भक्तापराध लग गया । हर जीव का आहार भगवान् ने ही बनाया है। गरुड़जी पक्षी जाति के हैं, अतः उनके लिए भगवान् ने जो आहार बनाया है, उसे यदि वे खाते हैं तो उनके लिए यह कोई अपराध नहीं है । बैल का आहार घास है; भगवान् ने ऐसा बना दिया है। अब कोई कहे कि वह घास क्यों खाता है, भूसा क्यों खाता है तो इसका कोई उत्तर नहीं है । सारी सृष्टि प्रभु से निर्मित है, उन्होंने जिस जीव के लिए जो आहार बना दिया, वह वही खाता है । गरुड़जी जो मछली खा रहे थे, वह भी ईश्वर–इच्छा से ही खा रहे थे । गरुड़जी को शाप देने से सौभरि ऋषि को वैष्णवापराध लगा और इस वैष्णव–अपराध से उनकी तपस्या नष्ट हो गई, उन्होंने पचास स्त्रियों से विवाह किया और दिन–रात भोग में डूब गये, सारी तपस्या जल गई । वैष्णवाचार्य यह भी लिखते हैं कि सौभरि ऋषि ने गरुड़जी को इसलिए शाप दिया कि यमुनाजी के जीवों की रक्षा होगी। यहाँ की मछलियाँ कभी नष्ट नहीं हों किन्तु उनके द्वारा जो भक्तापराध किया गया, उसका यह परिणाम हुआ कि उसी ह्रद (दह) में महाविषधर कालियनाग रहा और उसके विषैले जल से यमुनाजल में रहने वाले सभी जीवों का नाश हुआ, मछली तो क्या, यमुना तट के वृक्षादि भी नष्ट हो गये, एक योजन तक के आसपास रहने वाले सभी जीव नष्ट हो गये; यह सब कुछ सौभरि ऋषि के अपराध से हुआ। इस बात को समझो कि सौभरि द्वारा गरुड़जी के प्रति किये गये अपराध से यमुनाजी और उसके निकटवर्ती क्षेत्र के सारे जीवों का नाश हो गया। इसलिए मनुष्य को वैष्णवों के अपराध से डरना चाहिए।

कालियनाग की कथा से जुड़ी तीन–चार शिक्षायें अत्यंत महत्वपूर्ण हैं – एक तो स्वभाव से सम्बंधित है कि विनय सम्पन्न शील–स्वभाव हो, दूसरी शिक्षा यह कि आश्रम की आसक्ति ठीक नहीं । इसके बाद नागपत्नियों ने बताया कि भजन किस प्रकार स्वयं अमानी और दूसरों के प्रति मानद बनकर करना चाहिए और चौथी शिक्षा यह है कि वैष्णवजनों के अपराध से सदा डरना और बचना चाहिए ।

श्यामसुंदर ने 'कालियनाग' को उसके परिवार वालों के सहित रमणक–द्वीप भेजकर यमुनाजल को पूरी तरह शुद्ध, निर्मल बना दिया; इसके बाद जब वे बाहर निकल कर आये तो ब्रजवासियों के तो मानो प्राण लौट आये, सभी लोग प्रेम से अपने कन्हैया को हृदय से लगाने लगे... ।

प्रेम की पहिचान 'मनोयोग'

श्रीमुरलिकाजी द्वारा कथित श्रीभागवतसप्ताह–कथा से संकलित

अब मैया से अनुमति लेकर कृष्ण जैसे ही रथ पर बैठे और थोड़ी दूर ही रथ गया तो देखा कि गोपियों ने मार्ग को अवरुद्ध कर रखा है। अक्रूरजी ने गोपियों से प्रार्थना की कि तुम लोग मुझे मार्ग देने की कृपा करो किन्तु किसी ने भी उन्हें मार्ग नहीं दिया। किसी गोपी ने अक्रूरजी का हाथ पकड़ लिया, किसी ने घोड़ों की लगाम पकड़ ली, कोई कृष्ण का हाथ पकड़कर उन्हें समझाने लगी, कोई दाऊ भैया का हाथ पकड़कर समझाने लगी। श्रीकृष्ण ने उन सब गोपियों को सान्त्वना देते हुए कहा – हे ब्रजदेवियो ! केवल अंग–संग का नाम प्रेम नहीं है, मन की वृत्ति सदा प्रेमास्पद में लगी रहे, चाहे प्रेमी कहीं भी हो, किसी भी देश में किसी भी जगह हो लेकिन मन यदि प्रेमी में है तो प्रेम का यही सच्चा लक्षण है, यही प्रेम की परिभाषा है। अंग–संग का नाम प्रेम नहीं है। मैं सदा तुम्हारे पास ही रहूँ, यह प्रेम नहीं है। मैं तुमसे दूर भी चला जाऊँ, तब भी तुम निरन्तर मेरा स्मरण करती रहो, इसी का नाम प्रेम है और हे देवियो ! तुम्हारे प्रेम का बदला तो मैं कभी चुका ही नहीं सकता। तुम जब भी मेरा स्मरण करोगी, उसी समय तुम्हें मेरा दर्शन प्राप्त हो जाएगा। मैं दो दिन में लौटकर शीघ्र ही ब्रज में आ जाऊँगा। तुम्हारे बिना मथुरा में भी मेरा मन कैसे लगेगा ? इस प्रकार श्यामसुन्दर ने ब्रजगोपिकाओं को आश्वस्त किया और रथ को आगे बढ़ाने की अक्रूरजी को उन्होंने अनुमति दी। इधर यशोदा मैया विचार करने लगीं कि मेरे रोकने पर तो कन्हैया नहीं माना पर कम से कम गोपियों के रोकने पर तो मान जाता, ऐसा मेरा भरोसा था। अब तो इसने गोपियों को भी न जाने क्या पाठ पढ़ा दिया कि वे भी लाला को रोक नहीं रही हैं। आज की रात्रि मैं कैसे व्यतीत करूँगी ? कन्हैया के बिना यह ब्रज मुझे अनाथ सा लग रहा है। मैं कन्हैया के बिना यहाँ कैसे रहूँगी, ऐसा सोचते हुए अत्यधिक शोक–वेदना के कारण मैया धरती पर गिर पड़ी। श्यामसुन्दर रथ से उतरे और मैया के पास जाकर उनके अश्रु पोंछते हुए बोले – मैया ! जब तक तू सप्रसन्न मुझे जाने की अनुमति नहीं देगी, तब तक मैं मथुरा गमन नहीं करूँगा। तू क्यों इतना रो रही है ? यशोदा मैया ने कहा – लाला ! मैंने ऐसा सुना है कि तू मेरा पुत्र नहीं है, तू तो देवकी का पुत्र है, तू मथुरा जा रहा है तो मेरा इतना सन्देश देवकी को अवश्य दे देना कि वह मुझे तेरी माँ समझे अथवा न समझे परन्तु मुझे तेरी धाय, तेरी दासी तो समझती ही रहे, इतनी कृपा वह मुझ पर करती ही रहे; यह सन्देश मैया देवकी को अवश्य दे देना। यशोदा मैया की ऐसी बात सुनकर श्यामसुन्दर के कमल सरीखे नेत्रों में अश्रु भर आये, उन्होंने कहा – मैया ! यदि तू ऐसी बात पुनः कहेगी तो तेरा लाला फूट–फूटकर रोने लग जायेगा। देवकी मैया ने भले ही मुझे जन्म दिया हो परन्तु अनेकानेक कष्टों को सहकर मेरा लालन–पालन तो तूने ही किया है। इतना ऊधम यहाँ मैंने किया किन्तु तूने मुझे कभी डाँटा–फटकारा भी नहीं। मैया ! मैं तेरी सेवा, तेरे प्रेम को कभी भूल नहीं पाऊँगा। तू चिन्ता मत कर और सप्रसन्न मुझे मथुरा जाने की अनुमति दे। मैं अति शीघ्र वापस आ जाऊँगा। ऐसा कहकर गोपालजी ने मैया का चरण स्पर्श किया। यशोदा मैया के चरण–स्पर्श करके और उनकी अनुमति लेकर तब श्यामसुन्दर रथ पर विराजे। इधर नन्दबाबा ग्वालबालों के साथ गोरस इकट्ठा करके पहले ही छकड़ों पर बैठकर मथुरा के लिए प्रस्थान कर गये। कृष्ण–बलराम के साथ अक्रूरजी बात करते हुए धीरे–धीरे मथुरा की ओर बढ़े। मार्ग में ही अक्रूरजी ने यमुनाजी में स्नान किया। यमुना–जल में डुबकी लगाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें अपने ऐश्वर्यमय रूप का दर्शन कराया ...।

जब से जीव ने अपने शरीर को अपना घर समझा, तब से भगवान् से अलग है।

प्रेम–पाठशाला से बने ब्रजभावुक 'उद्धवजी'

श्रीमुरलिकाजी द्वारा कथित श्रीभागवतसप्ताह–कथा से संकलित

श्रीकृष्ण की प्रेरणा से उद्धवजी ब्रज पहुँचे तो वहाँ उन्होंने देखा –

इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः ।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥

(श्रीभागवतजी १०/४६/१०)

गायें भी बड़ी पुष्ट हैं, बछड़े भी पुष्ट हैं। गायों के छोटे–छोटे बछड़े इधर–उधर उछल–कूद रहे हैं। उद्धवजी सोचने लगे कि कृष्ण तो कहते थे कि सारा ब्रज मेरे विरह में रोता है, ब्रज के पशु–पक्षी तक मेरी याद करके रोते हैं परन्तु यहाँ तो इसके विपरीत हो रहा है। बछड़े आनन्द से उछल–कूद रहे हैं। ऐसा क्यों हुआ तो इसका उत्तर यह है कि ब्रज का प्रत्येक ब्रजवासी यह चाहता है कि कृष्ण कहके गये हैं कि मैं एक दिन ब्रज में लौटूँगा तो कहीं ऐसा न हो कि कृष्ण लौटकर ब्रज में आ जाएँ और हमारा शरीर कृष्ण के विरह में एकदम जर्जर हो जाये तो यह देखकर कृष्ण को कितना कष्ट होगा। जब हम ब्रजवासी कृष्ण को दुर्बल दिखायी देंगे तो उन्हें कितना कष्ट होगा अतः श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए गाय–बछड़े खाते हैं, कृष्ण की प्रसन्नता के लिए गोपियाँ श्रृंगार करती हैं। एक गोपी ने अपनी सखी से कहा कि मैंने तो श्रृंगार करना छोड़ दिया है –

हौं ता दिन कजरा दैहौं।
जा दिन नन्दनन्दन के नैनन, अपने नैन मिलैहौं ॥

मैं तो अपने नेत्रों में काजल ही नहीं लगाऊँगी, मैंने तो सब श्रृंगार त्याग दिया है; उसकी बात सुनकर दूसरी गोपी ने कहा – "अरी ! तू बावरी हो गयी है, मान ले आज संध्या तक यदि कृष्ण आ गये और तूने श्रृंगार नहीं किया है तो जब वे तुझे श्रृंगारविहीन अवस्था में देखेंगे तो क्या उन्हें प्रसन्नता होगी ? कृष्ण का मन कितना दुःखी होगा और यदि कृष्ण का मन दुःखी होगा तो क्या तू प्रसन्न हो जाएगी ?" अतः कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही गोपियाँ श्रृंगार करती हैं, कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही गोपियाँ भोजन करती हैं। ऐसा स्वयं श्रीकृष्ण ने गोपियों के बारे में अर्जुन से कहा है –

"निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते..."

तभी तो गोपियों को भगवान् ने अपना सर्वोच्च भक्त माना है क्योंकि वे अपने शरीर को भी अपना समझकर नहीं सजाती हैं, वे तो अपने शरीर को भी कृष्ण का शरीर मानकर कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही उसे सजाती हैं। उद्धवजी जब ब्रज में पहुँचे तो नन्दबाबा से मिले। नन्दबाबा और उद्धवजी के संवाद का भागवत में वर्णन है। नन्दबाबा ने उद्धवजी के मुख से जब सुना कि कंस की मृत्यु हो गयी जबकि उनके सामने ही कृष्ण के द्वारा कंस का वध हुआ था परन्तु उन्होंने कहा –

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ।

(श्रीभागवतजी १०/४६/१७)

उद्धवजी ! यह बहुत बढ़िया हुआ कि दुष्ट कंस मर गया।

नन्दबाबा का वात्सल्य देखो, उन्होंने यह नहीं कहा कि मेरे लाला ने कंस को मारा, उन्होंने कहा कि कंस तो अपने पापों के कारण मर गया। हमारे कुलदेवता नारायण भगवान् ने उसको मार दिया अन्यथा मेरा लाला तो छोटा– सा है, उसमें कहाँ इतनी ताकत है जो इतने बलशाली कंस को मार सके । नन्दबाबा ने आगे कहा – 'उद्धवजी ! मैं कृष्ण की कुशलता के बारे में आपसे नहीं पूछूँगा, मैं तो बस एक ही बात जानना चाहता हूँ, मुझे एक बार यह बता दो कि 'कृष्ण' ब्रज में कभी आयेंगे कि नहीं।' यदि उद्धवजी के मुख से भूल से भी यह निकल जाता कि कृष्ण नहीं आयेंगे तो नन्दबाबा तो उसी क्षण अपने प्राण त्याग कर देते। उद्धवजी ब्रजवासियों की दशा को देखते ही यह समझ गये कि इनको मैं कभी भूलकर भी यह नहीं कहूँगा कि कृष्ण नहीं आयेंगे । उद्धवजी और नन्दबाबा के संवाद का तो भागवत में वर्णन भी है किन्तु यशोदा मैया और उद्धवजी के संवाद का शुकदेवजी ने वर्णन ही नहीं किया। यशोदा मैया के संवाद के वर्णन करने का शुकदेवजी साहस ही नहीं कर सके क्योंकि

उनका ऐसा निश्छल प्रेम था कि जो अवर्णनीय है । यशोदाजी की स्थिति उद्धवजी ने देखी –

"जब से बिछुड़े हैं ब्रजराज,
नैनन की परतीति गयी ।"

मैया तो कृष्ण के विरह में अन्धी–सी हो गयी थी, उसे कुछ दिखायी ही नहीं देता था। उद्धवजी ने नन्दबाबा और यशोदा मैया को संतुष्ट करने के लिए कहा –

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।

(श्रीभागवतजी १०/४६/३४)

'हे नन्दबाबा और यशोदा मैया ! आप लोग चिन्ता मत करिए। कृष्ण–बलराम दोनों भैया ब्रज में शीघ्र ही लौटेंगे।' उद्धवजी के मुख से ऐसा सुनते ही नन्दबाबा को तो बहुत अधिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने उद्धवजी का हाथ पकड़ लिया। यशोदा मैया भी आनन्द से भरकर नन्दभवन में मिठाइयाँ बाँटने लगीं। मेरा लाला लौटेगा, मेरा कनुआ वापस आएगा – इतना सुनते ही मैया की प्रसन्नता की तो कोई सीमा ही नहीं रही।

इधर, उद्धवजी के मन में ब्रजगोपियों से मिलने की इच्छा हुई । गोपिकायें नन्दभवन के बाहर के मार्ग से होकर निकल रही थीं, उन्होंने देखा कि नन्दभवन के बाहर एक रथ खड़ा हुआ है। एक गोपी ने अपनी सखियों से कहा कि कहीं ऐसा तो नहीं कि अक्रूर फिर से आ गया है । दूसरी गोपी ने कहा कि अक्रूर तो स्वामिभक्त था, उसका गुण देखो कि अपने स्वामी का हित करने के लिए हम गोपियों की हत्या करके चला गया परन्तु अब पुनः यह अक्रूर क्यों आया है ? अब तो इसका स्वामी कंस भी मर गया तो फिर अब यह किसका काम बनाने आया है ? एक अन्य गोपी ने कहा कि मरने के बाद मृत जीवात्मा का पिण्डदान किया जाता है तो ऐसा लगता है कि अब अक्रूर हम लोगों को ले जाकर कंस का पिण्डदान करेगा। इस प्रकार सभी गोपियाँ परस्पर चर्चा कर रही थीं कि तब तक उद्धवजी वहाँ आ गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धवजी को देखा तो उन्हें देखकर वे थोड़ा संकोच करने लगीं, उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण के सखा उद्धवजी की आकृति और वेषभूषा श्रीकृष्ण से मिलती जुलती है। समस्त गोपिकायें उनका परिचय प्राप्त करने के लिए उद्धवजी को चारों ओर से घेरकर खड़ी हो गयीं। जब उन्हें मालूम हुआ कि ये तो हमारे प्यारे श्यामसुन्दर का सन्देश लेकर आये हैं तो गोपियों ने उद्धवजी से कहा –

निरस्त्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥

(श्रीभागवतजी १०/४७/७)

उद्धवजी ! श्रीकृष्ण हमको छोड़कर इस प्रकार चले गये जैसे धनहीन पुरुष को वेश्या छोड़ देती है। विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद जैसे शिष्य अपने गुरु को छोड़ देते हैं, दान–दक्षिणा लेने के बाद ऋत्विज अपने यजमानों को छोड़ देते हैं और फलहीन वृक्षों को पक्षीगण छोड़ देते हैं, ऐसे ही श्रीकृष्ण हमें छोड़कर चले गये। ब्रज अनाथ हो गया है, केवल श्रीकृष्ण के स्मरण से हमारे प्राण टिके हुए हैं। श्रीकृष्ण–स्मरण ही हमारा प्राणाधार बना हुआ है। इसके बाद ब्रजगोपियों ने भ्रमरगीत का वाचन किया । श्रीराधारानी के चरणों के आसपास एक भ्रमर मंडराने लगा, उस भ्रमर को श्रीजी ने बहुत कूट शब्द कहे मानो उस भ्रमर के बहाने 'श्रीजी' उद्धवजी को प्रेम सिखा रही हैं कि उद्धव ! प्रेम किसे कहते हैं ? कृष्ण तो प्रेम करना नहीं जानते हैं। चरणों के पास मँड़राते हुए भ्रमर से श्रीजी ने कहा –

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥

(श्रीभागवतजी १०/४७/१२)

अरे धूर्त, कपटी ! भाग जा यहाँ से, तू मेरी मनुहार करने के लिए आया है, जाकर दर्पण में देख – तेरी मूँछों पर हमारी सौतों का कुंकुम लगा हुआ है। श्रीकृष्ण ने अवश्य ही मथुरा की उन नारियों को आलिंगन दान दिया होगा । आलिंगनकाल में उन नारियों के वक्षःस्थल पर जो कुंकुम लगी होगी, वह कृष्ण की वनमाला पर लग गयी होगी और कृष्ण की वनमाला से उस कुंकुम को लेकर तू यहाँ आ गया है, तेरा मुख अपवित्र है, तू हमारी सौतों का स्पर्श करके आया है, उनके कुंकुम को ढोकर यहाँ लाया

है, इसलिए हम तुझे अपना स्पर्श दान नहीं देंगी; हमें छू मत, दूर हो जा। भ्रमर की वृत्ति कैसी होती है, पहले वह फूल के पास आता है, उसको खूब मनाता है; बेचारा फूल उसको अपना सब कुछ दे देता है किन्तु भ्रमर उसके रस का पान करके उड़कर चला जाता है, मुड़कर फूल की ओर देखता भी नहीं है। ऐसे ही कृष्ण हमें छोड़कर चले गये; महारास में उन्होंने हमारे साथ रास–विलास किया, रमण किया, रति दान किया किन्तु अब हम ब्रजगोपियों को अनाथ छोड़कर चले गये। पुष्प का रस लेकर जैसे भ्रमर उड़ जाता है, वैसे ही कृष्ण हमें छोड़कर चले गये। वे कहकर गये थे कि मैं दो दिन में लौट आऊँगा किन्तु उन्होंने आज तक भी हमारी सुधि नहीं ली। अब भी स्वयं नहीं आये, तुझे यहाँ भेज दिया मनुहार कराने के लिए। तू हमें कृष्ण की चर्चा मत सुना, वे हमारे लिए नये नहीं हैं, हम उन्हें बहुत पहले से जानती हैं; एक बात बता, किस अवतार में, किस रूप से उन्होंने भलाई की है ? वामन के रूप में आये तो बेचारे बलि का सब कुछ छीन लिया, उसे पाश में बाँध दिया, उसके अनुचर दैत्यों को अपने पार्षदों से पिटवाया, क्या इसी को भलाई कहा जाता है ? रामावतार को धर्मरूप कहा जाता है, उसमें भी उन्होंने क्या किया, शूर्पणखा को विरूप कर दिया । किसलिए वे इतने सुन्दर हुए, बेचारी शूर्पणखा उनके रूप से मोहित होकर उनके पास आयी थी, उसका क्या दोष था ? चलो, उससे विवाह न करते परन्तु उन्होंने तो उसे विवाह के योग्य भी नहीं छोड़ा, उसके नाक–कान काट लिए । सोच लिया कि न मैं इसके साथ विवाह करूँगा और न ही किसी और के साथ इसका विवाह होने दूँगा । यह कौन–सा धर्म है, यह कौन–सा न्याय है ? इसलिए भ्रमर ! हमारे सामने तू उस निष्ठुर की चर्चा मत कर, उसका नाम भी मत ले । उद्धवजी से रहा नहीं गया, उन्होंने गोपियों से पूछा कि जब तुम कृष्ण की चर्चा सुनना नहीं चाहती हो तो फिर उनकी चर्चा करती क्यों हो ? ब्रजगोपियों ने कहा –

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट–
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।

श्रीकृष्ण की लीला–कथा ऐसा अमृत है कि इस अमृत बिन्दु का एक बार भी चस्का यदि किसी को लग गया तो वह अपना घर–द्वार स्वाहा कर देगा परन्तु इस अमृत को छोड़ नहीं पायेगा। उद्धवजी ! अब उसकी चर्चा ही तो हमारा प्राणाधार रह गयी है, यदि उसकी चर्चा भी हमने छोड़ दी तो हमारे प्राण नहीं बचेंगे ।

गोपियों के लिए प्राण त्याग करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी, वे यदि चाहतीं तो जिस समय कृष्ण ब्रज छोड़कर गये, उसी समय अपने प्राण त्याग देतीं परन्तु ब्रजाङ्गनाओं के लिए प्राण–त्याग करना बड़ी बात नहीं थी, उनकी तो यही धारणा थी कि कृष्ण कहीं ब्रज में कभी भी आ गये और हम लोग मृत्यु को प्राप्त हो गयीं तो उन्हें कितना कष्ट होगा । अतः कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही उन्होंने अपने प्राणों को धारण कर रखा था, कृष्ण के सुख के लिए ही वे जीवित थीं, उनके जीवित रहने का और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं था। उद्धवजी ने गोपियों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने का प्रयास किया परन्तु ब्रजदेवियों ने उनके एक–एक उपदेश का खण्डन कर दिया । उद्धवजी निर्गुण–निराकार ज्योति की उपासना बताने लगे तो ब्रजगोपियों ने उनसे कहा कि यह सीख जाकर किसी और को सिखाना, उन्होंने कहा –

"जो मुख नाहिन होतो, कहो किन माखन खायो।"

आप कहते हैं कि उनके (परब्रह्म कृष्ण के) मुख नहीं है किन्तु हमने तो श्यामसुन्दर को अपने हाथों से माखन खिलाया है, हम कैसे इस बात को स्वीकार कर लें कि हमारा कन्हैया बिना मुख वाला है ।

"पाँयन बिन गो संग, कहो बन–बन को धायो।"

आप कहते हैं कि उनके चरण नहीं हैं, यदि उनके चरण नहीं हैं तो फिर वे वन–वन में गायों के पीछे कैसे दौड़े ? गोचारण के लिए बिना चरणों के वे वन में कैसे जाते ?

आँखन में अंजन दयो, गोवर्धन लयो हाथ।
नन्द–जसोदा पूत हैं, कुँवर कान्ह ब्रज नाथ ।।

हमने अपने हाथों से कृष्ण के नेत्रों में अंजन लगाया है, इसलिए हे उद्धवजी ! आप हमें निर्गुण–निराकार ब्रह्म की उपासना मत बताइये, यह उपासना हमारे योग्य नहीं है,

इसे हम धारण नहीं कर सकेंगी । इस तरह गोपिकाओं ने उद्धवजी के प्रत्येक उपदेश का खण्डन कर दिया और उन्हें अपने प्रेम रूपी ज्ञान से परिपूर्ण कर दिया। उद्धवजी आये तो इस लक्ष्य से थे कि गोपियों को ज्ञान का उपदेश करके ब्रज लौट जाऊँगा परन्तु ब्रजगोपियों के प्रेम की उच्च अवस्था को देखकर उन्हें ब्रज में रहते छः महीने व्यतीत हो गये, जाने का नाम ही नहीं लिया। मथुरा में वे कृष्ण से कहा करते थे कि आप परब्रह्म होकर रोते क्यों हैं, आपको रोना नहीं चाहिए किन्तु ब्रज में गोपियों के साथ स्वयं रोते थे क्योंकि गोपियों ने उन्हें सिखाया कि प्रेम कैसे किया जाता है ? यदि रुदन नहीं करोगे, प्रेमास्पद की प्राप्ति के लिए हृदय में यदि उत्कण्ठा नहीं होगी तो कैसे प्रेम करोगे। इस प्रकार ब्रजगोपियों ने उद्धवजी को उत्कृष्ट प्रेम से परिपूर्ण कर दिया। एक दिन स्वयं श्रीजी ने उद्धवजी से कहा – 'उद्धव ! तुम्हारे मित्र श्रीकृष्ण मथुरा में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। इसलिए अब तुम मथुरा वापस चले जाओ।' मथुरा के लिए चलते समय उद्धवजी ने भगवान् से प्रार्थना की – हे प्रभो ! मेरे द्वारा यदि कोई सुकृत हुआ हो तो आप मुझ पर यही कृपा कीजिये कि इस ब्रजभूमि का कोई झाड़, लता–औषधि आप मुझे बना दीजिये ...

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।

मुझे ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं चाहिए, ऊँचा कुल मुझे नहीं चाहिए । ब्रज–वृन्दावन धाम में किसी भी योनि में, किसी भी जाति में मेरा जन्म हो जाये तो मेरा जीवन धन्य हो जायेगा । ब्रजभूमि में यदि मैं पाषाण ही बन जाऊँगा तो जब मार्ग के मध्य पड़ा रहूँगा तब ब्रजगोपिकाएँ जब दधि विक्रय के लिए जाएँगी तो अपने चरणतल से मुझ निश्चेष्ट पाषाण को जब एक ओर कर देंगी तो इनके पाद स्पर्श मात्र से मेरे तो जन्म–जन्मान्तर धन्य हो जायेंगे, मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा। उद्धवजी गोपियों की चरणरज की वन्दना करने लगे – **वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।**
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥

(श्रीभागवतजी १०/४७/६३)

मैं नन्दबाबा के ब्रज में रहने वाली गोपिकाओं के चरणरज की वन्दना करता हूँ, इन व्रजाङ्गनाओं के द्वारा श्रीकृष्णयश का जो गायन किया गया है, उससे केवल पृथ्वी ही नहीं अपितु त्रिलोकी परम पवित्र हो रही है।

ब्रज से मथुरा जाते समय श्रीजी ने उद्धवजी से कहा – उद्धवजी ! कृष्ण का सन्देश तो तुमने मुझसे कह दिया, कृष्ण की स्थिति भी मुझे बता दी किन्तु मैं तो हूँ वज्रमयी, मुझे कुछ नहीं हुआ परन्तु कन्हैया का मन नवनीत खा–खाकर माखन की तरह बन गया है । इसलिए श्रीकृष्ण को हम गोपियों की स्थिति के बारे में तुम जरा भी संकेत मत करना अन्यथा उनका हृदय द्रवित हो जायेगा, उनको बहुत कष्ट होगा । श्रीजी व ब्रजगोपियों के चरणकमलों की वन्दना करके उद्धवजी मथुरा पहुँचे। वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका गाढ़ आलिंगन किया और उनसे कहा – 'उद्धव ! यह तुम्हारी वही देह है जो ब्रजरज से, ब्रजप्रेम से लिप्त होकर आई है। अब तुम समझे हो कि प्रेम किसे कहते हैं, अब तुम प्रेम को जान पाए हो।' उद्धवजी ने कहा – 'प्रभो ! अब मैं समझ गया कि पहले आप क्यों रोया करते थे ?' ऐसा कहकर वे स्वयं रोने लगे; उन्हें रोते देखकर श्यामसुन्दर हँसने लगे और बोले – चलो, अब जो मेरी इच्छा थी, वह पूरी हो गयी। अब तक तो यहाँ मैं एक ही रोने वाला था, अब दूसरा रोने वाला भी साथ मिल गया; अब हम दोनों साथ में बैठकर रोया करेंगे और ब्रजगोपियों का स्मरण किया करेंगे। उद्धवजी ने कहा – प्रभो ! उन गोपियों के विरह का दुःख आपके ब्रज जाये बिना दूर नहीं होगा, मैंने तो सोचा था कि ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा उनके शोक को दूर करके आऊँगा परन्तु मैं असमर्थ रहा, उनके दुःख को दूर नहीं कर सका। जब तक आप ब्रज में नहीं जायेंगे, तब तक वे ब्रजगोपियाँ आपके वियोग में सदा व्याकुल ही रहेंगी, वे भी रोती रहेंगी, आप भी रोते रहेंगे और अब आपके साथ मैं भी रोता रहूँगा; इस प्रकार उद्धवजी को भगवान् कृष्ण ने गोपिकाओं के द्वारा प्रेम का ज्ञान दिलवाया ।

आशा जब मनुष्य भगवान् से इतर कहीं और करता है तो भगवान् से विमुख हो जाता है अर्थात् उसकी शरणागति नष्ट हो जाती है।

कथावाचक का आभूषण 'विनम्रता'

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत-कथा' से संकलित

एकबार बलरामजी ने सुना कि दुर्योधनादि कौरव 'पाण्डवों' के साथ युद्ध करने की तैयारी कर रहे हैं। बलरामजी मध्यस्थ थे, उन्हें किसी का पक्ष लेकर लड़ना पसन्द नहीं था। इसलिए वे तीर्थों में स्नान करने के बहाने द्वारका से चले गये। वे पृथ्वी के बहुत से तीर्थों में गये। यमुना तट और गंगा तट के प्रधान तीर्थों में भ्रमण करते हुए जब वे नैमिषारण्य क्षेत्र में गये तो उनके द्वारा श्रीसूतजी का वध हुआ। यह एक बहुत ही अनहोनी ऐतिहासिक घटना थी जो पहली बार घटित हुई कि बलरामजी के द्वारा एक भगवत्कथा-वक्ता का वध हुआ, इसका कारण यह था कि जब बलरामजी नैमिषारण्य पहुँचे तो वहाँ उन दिनों बड़े-बड़े ऋषि सत्सङ्ग रूपी महान सत्र कर रहे थे। उन ऋषियों ने बलरामजी को आया देख अपने-अपने आसनों से उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया और प्रणाम करके उनकी पूजा की। बलरामजी ने देखा कि भगवान् व्यास के शिष्य रोमहर्षणजी व्यास गद्दी पर बैठे हुए हैं और उनके आने पर न तो उठकर प्रणाम करते हैं और न ही हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। इस पर बलरामजी को क्रोध आ गया और उन्होंने कहा कि भगवान् व्यासदेव का शिष्य होकर इसने इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि बहुत से शास्त्रों का अध्ययन भी किया है परन्तु अभी इसका अपने मन पर संयम नहीं है, यह विनयी नहीं बल्कि उद्दण्ड है –

अदान्तस्याविनीतस्य वृथा पण्डितमानिनः।
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः॥

(श्रीभागवतजी १०/७८/२६)

इस अजितेन्द्रिय ने झूठमूठ ही अपने को बहुत बड़ा पण्डित मान रखा है। जैसे नट की सारी चेष्टायें अभिनय मात्र होती हैं, वैसे ही इसका सारा अध्ययन स्वाँग के लिए है, उससे न इसका लाभ है और न किसी दूसरे का।

कुछ ऐसी योग्यतायें हैं, जो वक्ता के अन्दर अवश्य ही होनी चाहिए। श्रीबलरामजी महाराज ने उपरोक्त श्लोक में उनका वर्णन किया है – एक तो है 'जितेन्द्रियता' अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्ण संयम होना चाहिए। इन्द्रिय-संयम यदि नहीं है तो व्यासगद्दी पर बैठकर भी इन्द्रियों की चंचलता निश्चित ही कथा में विघ्न उपस्थित करेगी। इसलिए इन्द्रियों में संयम हो तथा हृदय में विनम्रता का भाव हो। महात्माओं ने कहा है –

नम्र भए सद्गुण टिकत, ऊँचे से गिर जात।
पर्वत पर जल नहिं रहत, सिंधु माहि समात॥ जब तक विनम्रता जीवन में नहीं है तो बड़े से बड़े जो भी गुण हैं, वे सब आकर भी चले जायेंगे। जैसे पहाड़ पर पानी नहीं टिकता है लेकिन समुद्र में पानी टिक जाता है क्योंकि जो जितना अगाध है, उसके अन्दर संजोने की सामर्थ्य है। पर्वत में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह वर्षा के जल को संजो सके। जब वर्षा होती है तो पर्वत का सारा जल बहकर नीचे चला जाता है क्योंकि पर्वत की चोटी पर जल ठहरता नहीं है। इसी तरह विनम्रता हृदय को अगाध (गहरा) बनाती है। जब हृदय अगाध अर्थात् गहरा हो जाता है तब उस गहरे हृदय में ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति के अन्य गुण धर्म सहज में टिक जायेंगे। हृदय सिन्धुवत् अगाध होगा तो समस्त गुण उसमें वर्षा के सब तरह के जल की तरह समा जायेंगे। इसलिए विनम्रता वक्ता का एक भूषण है, विशेष रूप से बलरामजी ने आगे तो यहाँ तक कह दिया कि –

वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः।

(श्रीभागवतजी १०/७८/२७)

जो लोग धर्म का चिह्न धारण करते हैं परन्तु धर्म का पालन नहीं करते, ऐसे धर्मध्वजी अधिक पापी हैं और वे मेरे लिए वध करने योग्य हैं।

साधारण लोगों में यदि नम्रता नहीं है तो न हो परन्तु जो वक्ता है, जो उपदेश कर रहा है, उसके लिए विनम्रता अनिवार्य है। रसिकों ने बहुत सुन्दर बात कही है –

और कोई भूलो तो भूलो, तुम मत भूलो मालाधारी।

साधारण लोग भूल जाएँ तो कोई बात नहीं किन्तु हे मालाधारी साधुजनों ! श्रेष्ठ आचरण को तुम मत भूलो। श्रीकबीरदासजी ने प्रायः जितने भी पद कहे हैं, उन सभी में उन्होंने साधु–संतों को ही संकेत किया है –

कहत कबीर सुनो भाई साधो ।

राजा अथवा शासक यदि अच्छा है तो उसके अधीन जो प्रजा है, वह स्वतः ही अच्छी बन जाएगी । वक्ता के अन्दर जब विनम्रता आदि सद्गुण होंगे तो सामान्य लोग भी अपने आचरण में उन गुणों को ला सकेंगे, इसे सीख सकेंगे । व्यासजी महाराज ने भी बहुत सुन्दर पद कहा है –

जो तू माला तिलक धरे तो,
या तन मन व्रत की लज्जा और निवाह करै।

अगर भक्ति के चिह्न धारण करते हो तो भक्ति की समस्त मर्यादाओं का भी पालन करना चाहिए। जैसे किसी दुकान के बाहर बोर्ड पर लिखा हो कि यहाँ शुद्ध देशी घी मिलता है परन्तु यदि उसी दुकान पर चर्बी मिश्रित घी बिकने लग जाये तो क्या उस दुकान का यश रह जायेगा ? इससे तो उसकी बदनामी हो जाएगी कि जहाँ शुद्ध वस्तु का साइन बोर्ड लगा है, वहाँ ही ऐसी अशुद्ध वस्तु मिल रही है । माला, तिलक आदि क्या हैं, ये सब साधु–संतों, वैष्णवों के साइन बोर्ड हैं कि कम से कम साधारण आदमी में दुर्गुण हों तो हों परन्तु संतों–वैष्णवों के अन्दर नहीं होने चाहिए । इसीलिए रसिकों ने कहा है – "और कोई भूले तो भूले तुम, मत भूलो मालाधारी।" श्रीहरिरामव्यासजी भी कह रहे हैं – "जो तू माला तिलक धरै ।" या तो धर्म की ध्वजा धारण मत करो और यदि ध्वजा धारण करते हो तो उसका ठीक से निर्वाह करो, उसकी लज्जा रखो। वैष्णव वेष साक्षात् भगवान् का स्वरूप है। हम लोग उल्टे–सीधे आचरण करके वैष्णव वेष को लज्जित करते हैं, इसका उपहास कराते हैं, जबकि महात्माओं ने बहुत कठोर बातें कही हैं, बड़े सख्त निर्देश दिए हैं – वैष्णव वेष धारण किया है तो इस वेष की लज्जा रखना।

करि बहु भाँति भरोसो हरि को, भवसागर उतरै।

वैष्णव–वेष धारण करके यदि सांसारिक लोगों से आशा की जाए तो इसमें भगवान् का अनादर है, उनका अपमान है। हम लोग भगवान् के दास बनते हैं और नाम रखते हैं – रामदास, कृष्णदास आदि किन्तु संसारी लोगों से आशा करते हैं तो इसमें अनादर किसका है, हम लोग भगवान् का ही तो अनादर कर रहे हैं ।

मनसा वाचा और कर्मणा, तन कर गुनहू धरै ॥
सती न फिरत घाट ऊपर तै, सिर सिन्दूर परै।
ब्यासदास कौ कुंजबिहारी, प्रीति न कबहु बिसरै ॥

वैष्णवमात्र का सबसे बड़ा लक्षण यही है कि भगवान् के चरणों के प्रति उसका अनुराग कभी कम न हो, कभी अनुराग घटे नहीं। अस्तु, जब यही वैष्णवोचित गुण–धर्म श्रीरोमहर्षण सूतजी के अन्दर श्रीबलरामजी ने नहीं देखे तो उन्होंने कहा –

वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः ।

ऐसे लोग ज्यादा पापी हैं जो वैष्णव–वेष धारण करके वेष की निन्दा कराते हैं, वेष को लजाते हैं। वे साधारण पापियों से अधिक पापी हैं। ऐसा कहकर बलरामजी ने अपने हाथ में स्थित कुश की नोक के प्रहार से सूतजी का वध कर दिया। यह बहुत बड़ी अनहोनी घटना घट गयी। सूतजी अभी थोड़ी देर पहले ही कृष्ण कथा कह रहे थे और अचानक बलरामजी ने उनका वध कर दिया, उन्होंने यहाँ तक कह दिया –

एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः ।

मैंने ऐसे धर्म–ध्वजियों को मारने के लिए ही अवतार धारण किया है। सूतजी के मरते ही वहाँ उपस्थिति समस्त ऋषि–मुनि हाय–हाय करने लगे, उन्होंने बलरामजी से कहा – 'भगवन् ! यह स्थान तो सूना हो गया, अब हम लोगों को कृष्ण–कथा कौन श्रवण करायेगा ?'

तब बलरामजी ने कृपा करके रोमहर्षण सूतजी के पुत्र को यश, आयु और वैष्णवोचित गुणधर्मों से सम्पन्न कर दिया और उन्होंने ही आगे चलकर ऋषि–मुनियों को भगवत्कथा का श्रवण कराया ...।

यह संसार माया है, इसको देखकर जो इसे सत्य मानता है, वह पशु है। बच्चा बड़ा हुआ तो सोचते हैं इसका विवाह हो, यह भोग भोगे, इसको रोटी-पानी मिल जाए, बस इससे आगे कुछ नहीं सोचते। कोई माँ-बाप नहीं सोचता कि हमारा बच्चा संसार रूपी कारागार से मुक्त हो जाए।

गुणग्राही 'श्रीदत्तात्रेयजी'

बाबाश्री द्वारा निःसृत 'श्रीभागवत-कथा' (फरवरी १९८५) से संकलित

उद्धवजी ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा – हे भगवन् ! आपके जैसा वक्ता त्रिलोकी में कोई नहीं है, अतः आप ही मुझे ज्ञान दीजिये।

श्रीकृष्ण ने कहा – उद्धव ! ज्ञान तो गुरु के पास मिलता है, इसलिए गुरु के पास जाकर ज्ञान लेना चाहिए; इस विषय में एक इतिहास है, एकबार हमारे पूर्वज यदुजी कहीं जा रहे थे, उन्हें रास्ते में अवधूत दत्तात्रेयजी मिले; राजा यदु ने उनसे पूछा – महाराज ! आपको ऐसी सुन्दर बुद्धि कहाँ से प्राप्त हुई ? आप हैं तो विद्वान किन्तु बालक की तरह रहते हैं।

(एक वेदमन्त्र में कहा गया है कि चारों वेद पढ़कर बालक की तरह रहे, भोला बनकर रहे। पहले तो पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर ले, उसके बाद पाण्डित्य को छोड़ दे। 'बालक जैसा स्वभाव बन जाना' विद्वत्ता से ऊँची बात है।)

राजा यदु ने दत्तात्रेयजी से पूछा कि आपको अपने आत्मा में ही आनन्द का अनुभव कैसे होता है ? आप कृपा करके अवश्य बताइए ।

दत्तात्रेयजी ने कहा – मेरे बहुत से गुरु हैं, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत में मुक्त भाव से स्वच्छन्द विचरता हूँ, मेरे चौबीस गुरु हैं, उनके नाम हैं – पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालने वाला, हिरन, मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँवारी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट; इन चौबीस गुरुओं से मैंने शिक्षा ग्रहण की है। पृथ्वी से क्षमा की शिक्षा ली है, पृथ्वी पर लोग

मल-मूत्र त्याग करते हैं, खोदते हैं, तरह-तरह के आघात करते हैं किन्तु पृथ्वी किसी से कुछ नहीं कहती है।

शरीर के भीतर रहने वाले वायु से मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे उसे केवल आहार की ही आवश्यकता होती है, उसकी प्राप्ति से ही वह संतुष्ट रहता है, उसी प्रकार साधक को चाहिए कि जितने से जीवन निर्वाह हो जाए, उतना ही भोजन कर ले, इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए बहुत से विषय न चाहे; शरीर के बाहर रहने वाले वायु से मैंने यह शिक्षा ली है जैसे वायु को अनेक स्थानों में जाना पड़ता है किन्तु वह कहीं आसक्त नहीं होता, इसी प्रकार साधक भी किसी से आसक्ति या द्वेष न करे ।आकाश से मैंने असंगता की शिक्षा ग्रहण की है, आकाश की तरह असंग हो जाओ – जैसे आग लगती है, पानी बरसता है, अन्न आदि पैदा होते और नष्ट हो जाते हैं, वायु की प्रेरणा से बादल आदि आते और चले जाते हैं; यह सब होने पर भी आकाश अछूता रहता है; इसी प्रकार संसार में रहकर भी सबसे असंग बने रहो।

जल से मैंने स्वच्छता की शिक्षा ली है, जिस प्रकार जल स्वभाव से ही स्वच्छ और पवित्र करने वाला होता है, वैसे ही साधक को भी शुद्ध और लोकपावन होना चाहिए। अग्नि से मैंने शिक्षा ली है कि तेजस्वी बनो। चन्द्रमा की कलाएँ घटती-बढ़ती हैं, फिर भी चन्द्रमा न घटता है, न बढ़ता है; इसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि जन्म आदि विकारों में भी निर्विकार बना रहे। सूर्य से यह शिक्षा ग्रहण की है कि समस्त बाहरी उपाधियों से राग नहीं करना चाहिए। समुद्र से मैंने यह सीखा है कि साधक को सदा प्रसन्न और गंभीर रहना चाहिए। अजगर एक जगह पड़ा रहता है और दैव इच्छा से उसके मुँह में स्वाभाविक रूप से जो आहार चला जाता है, वह उसी से संतुष्ट रहता है; इसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि उसको दैव इच्छा से जो कुछ भी प्राप्त हो, उसमें ही संतोष कर लेना चाहिए। बालक से मैंने शिक्षा ली है कि मनुष्य को हर स्थिति में सदा प्रसन्न रहना चाहिए।

एकबार एक बाण बनाने वाला कारीगर बाण बनाने में इतना तन्मय हो गया कि उसके पास से ही राजा की सवारी निकल गयी और उसे पता तक न चला, राजा की सवारी के साथ सैकड़ों हाथी-घोड़े चले गये किन्तु उसे कुछ भी पता नहीं लगा, इतना अधिक बाण बनाने

में उसका मन डूबा हुआ था; दत्तात्रेयजी ने कहा कि उस बाण बनाने वाले से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि इसी प्रकार हमें भी अपने मन को एकाग्र करना चाहिए।

मकड़ी से मैंने स्वतंत्रता की शिक्षा ली है। भृङ्गी एक कीड़े को ले जाकर दीवार पर अपने रहने की जगह में बंद कर देता है और वह कीड़ा भय से उसी का चिंतन करते–करते उसी शरीर से तद् रूप हो जाता है, इसी प्रकार साधक को भी भगवान् का ध्यान करना चाहिए, भगवान् का पूर्ण एकाग्रता के साथ चिंतन करने से उसे भगवद्–सारूप्य की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार कबूतर से घर–परिवार की आसक्ति छोड़ना सीखना चाहिए। मछली काँटे में लगी आटे की गोली के लोभ से मारी जाती है, इसी प्रकार स्वाद का लोभी मनुष्य भी जीभ के वश में होकर मरता है।

'हिरन' बहेलिया के गीत से मोहित होकर मारा जाता है, अतः उससे यह शिक्षा मिलती है कि साधक को गंदे–गंदे ग्राम्य गीतों को नहीं सुनना चाहिए ।

किसी घर में एक कुँवारी कन्या थी, एक बार विवाह के लिए उसे देखने वाले उसके घर आये, उनको भोजन कराने के लिए वह धान कूटने लगी, उस समय उसकी कलाई में पड़ी शंख की चूड़ियाँ जोर–जोर से बजने लगीं, इससे वर पक्ष वालों को उसकी दरिद्रता का पता चलता है तो उसने एक–एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ दीं; जब तक दो चूड़ियाँ रहीं तब तक भी खन–खन ध्वनि होती रही, जब एक चूड़ी रह गयी तब बजने की कोई ध्वनि नहीं हुई; उससे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते हैं तब कलह होता है और दो व्यक्ति साथ रहते हैं तब भी उनमें बातचीत होती ही है; इसलिए कुमारी कन्या की चूड़ी की तरह साधक को अकेले ही विचरण करना चाहिए। हाथी पकड़ने वाले कागज़ की नकली हथिनी बनाकर एक गहरे गड्ढे को घास–फूस से ढककर उसके ऊपर खड़ी कर देते हैं, हाथी उसे देखकर कामासक्त हो जाता है, जैसे ही हथिनी को पकड़ने चलता है, गहरे गड्ढे में गिर जाता है और फिर मनुष्यों के द्वारा पकड़ लिया जाता है; इसलिए साधक को स्त्री के प्रति मैथुनीभाव से बचना चाहिए, अन्यथा उसका घोर पतन होता है, हाथी से मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है ।

'पतंगा' रूप पर मोहित होकर आग में कूदकर जल जाता है, वैसे ही मनुष्य भी सुन्दर स्त्री या सुन्दर पुरुष के रूप को देखकर कामाग्नि में इस प्रकार जल जाता है कि अपने धर्म, अपने कर्तव्य को छोड़ देता है और यह नहीं देखता कि आगे वृद्धावस्था आ जाएगी फिर मृत्यु हो जाएगी, यह शरीर तो विनाशी है।

भौंरा सुगन्ध की आसक्ति से कमल में बंद होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार स्वाद की वासना से एक ही गृहस्थ का अन्न खाने से उसके प्रति मोहासक्ति में फँसकर साधु भी नष्ट हो जाएगा; इसलिए साधु को रोटी के टुकड़े कई घरों से माँगना चाहिए, जिस प्रकार भौंरा कई पुष्पों से रस ग्रहण करता है ।

एक कुरर पक्षी के चोंच में जब तक माँस का टुकड़ा था, तब तक दूसरे पक्षी उस टुकड़े को छीनने के लिए उससे लड़ते रहे, जब कुरर पक्षी ने अपनी चोंच से माँस का टुकड़ा फेंक दिया, तभी उसे सुख मिला; इससे मनुष्य को त्याग की शिक्षा लेनी चाहिए। मनुष्यों को जो वस्तुएँ अत्यंत प्रिय लगती हैं, उनका संग्रह करना ही दुःख का कारण है, इसके विपरीत जो अकिञ्चन भाव से रहता है, उसे अनन्त सुख रूप भगवान् की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार दत्तात्रेयजी ने यदुजी को अपने चौबीस गुरुओं और उनसे प्राप्त शिक्षा के बारे में बताया। दत्तात्रेयजी से शिक्षा प्राप्त करके यदु ने उनकी पूजा की और इसके बाद दत्तात्रेयजी वहाँ से चले गये ...।

भगवान् भक्तों से कितना प्रेम करते हैं, इसको हम लोग समझ नहीं सकते; अगर समझ जायें तो उसी दिन माया समाप्त हो जायेगी। इसी बात को तुलसीदास जी ने लिखा है कि आज तक उनकी कृपा को हम नहीं समझ पाए, अगर करोंड़ों मुखों से भी भगवान् की कृपा का वर्णन किया जाए तो भी उनकी कृपा का वर्णन नहीं किया जा सकता। हरि ! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों। साधन–धाम बिबुध दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों॥

वैराग्यमयी रहनी से वास्तविक भक्ति

बाबाश्री के सत्संग (२५/११/२००३) से संकलित

आज से लगभग ६५ वर्ष पूर्व जब हम (श्रीबाबामहाराज) मानगढ़ पर आये तो प्रारम्भ में अनेक भयानक बाधाओं व प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा ... कुछ दिनों बाद यहाँ हम वेदान्त इत्यादि पढ़ने लगे, इसके लिए २२ – २२ घंटे अध्ययन करते थे।

सखीशरणजी रात को १२ बजे हमारे पास रोटी लेकर आते थे क्योंकि जल्दी खा लेंगे तो नींद आने के कारण सो जाएँगे, ये जाड़े में गाँव से भिक्षा (मधूकरी) माँगकर ले आते थे और खा–पीकर सो लेते थे, हमने इनसे कहा था कि रात में १२ बजे के पहले मत आना। जब इनकी नींद खुलती थी, तब ये नीचे (अपनी कुटिया) से ऊपर मानमंदिर में मधुकरी (भिक्षान्न) लाकरके हमें भोजन करवाते थे और हम मधुकरी प्रसाद पाकर के तुरन्त इन्हें नीचे भेज देते थे क्योंकि सभी को अपने–अपने कर्मानुसार अलग–अलग ही आना–जाना है (समस्त जीवों का अकेले ही जन्म व मरण होता है)। भक्त का पहला लक्षण है –

"अभयं सत्व संशुद्धिः" निडर होना, अगर निडरता नहीं है तो भगवान् पर विश्वास नहीं है।

मानमंदिर पर जब हमने पहली बार सोने के लिए खाट बिछाया क्योंकि नीचे पहाड़ी भूमि होने से सर्प, बिच्छू बहुत थे, जमीन पर सो नहीं सकते थे, रात को लगभग १–२ बजे ऐसा लगा जैसे चारपाई हिली, कुछ नींद आने वाली थी तो हम फिर १०–२० मिनट बैठे, फिर लेट गए, तो कुछ देर बाद दुबारा ऐसा ही हुआ, ३–४ बार ऐसा हुआ, उसके पहले कई साधु मानगढ़ से जा चुके थे... तो हमने उठकर के जोर से कहा – देखो, इस मंदिर में अगर कोई है, याद रखो मैं अगर मर भी जाऊँगा तो मेरी लाश भी यहाँ से नहीं हटेगी, तुम खाट हिलाते हो, सामने आ जाओ, खाट को उल्टा करो या कुछ भी करो; अब मैं यहीं सोऊँगा, हम मानगढ़ से पीछे हटने वाले नहीं हैं। यही बात हमने डाकुओं से कहा था, 'जहान डाकू' से हमारा आमना–सामना हुआ; वे हमको कमरे में बंद कर गये थे, फिर सखीशरण ने आकर के खोला था। लोगों ने मारने के लिए हमारे ऊपर घात भी चलाई थी, ये सब मानपुर के लोगों ने देखा था – रात को १२ बजे कीर्तन में हमारे ऊपर घात आई और कुछ नहीं हुआ। कहने का तात्पर्य है कि आदमी अगर अपनी कमजोरियों को लेकर के मरेगा तो वही उसके साथ में जाएँगी। श्रीभगवान् ने गीताजी (१५/८) में कहा है –

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

जब मनुष्य मरता है, तो वह अपनी 'आदतें, आसक्तियों' को लेकर के जाता है। भक्ति कमाया तो भक्ति लेकर के जाएगा और भक्ति की जगह कोई आसक्ति है, कोई गंदी आदत है तो उसी को लेकर के जाएगा। वैसे ही हमको मरने के पहले अन्तःकरण को बिलकुल साफ़ कर लेना चाहिए; कोई भी धब्बा, कोई भी आसक्ति, कोई भी कमजोरी नहीं रहनी चाहिए। हमारे पास हजारों लोग रहने के लिए आये गह्वरवन में लेकिन वे बेचारे अन्य आसक्तियों के कारण यहाँ से चले गये।

शंकराचार्यजी के एक बड़े भारी विद्वान् शिष्य थे, वह एकबार हमारे पास आये यहाँ दिन में, सत्संग होने लग गया तो उन्होंने हमसे कहा – आपके मन की स्थिति क्या है ? हमने कहा – अभी भगवान् तो मिले नहीं हैं ।

वे बोले – आपके काम, क्रोध, लोभ की स्थिति क्या है ? हमने कहा – अभी हम ये नहीं कह सकते हैं कि चित्त में से चले गये हैं। तब वे विद्वान् बोले कि आपको डर लगता है ? हमने कहा कि हाँ, लगता है ।

विद्वान् जी – "फिर आपकी साधना ठीक नहीं है, जब डर लगता है तो साधना ठीक नहीं है, ये सब आत्मा ही तो है, ये सब जो चराचर दिख रहा है, वह भगवान् ही तो है; वही सर्प है, वही शेर है, वही बिच्छू है और बोले कि आप समस्त प्राणियों में आत्मदृष्टि रखिये ।" इस प्रकार से उन्होंने बहुत हमको ज्ञान दिया। हमने कहा कि महाराजजी ! कोशिश कर रहे हैं, आत्मदृष्टि आ नहीं रही है। वे बोले – "आप खाते क्या हैं ?" हमने कहा कि हम

भिक्षा माँगते हैं। शाम के समय हम चले गये भिक्षा माँगने, पहले हम भिक्षा माँगने जाते थे, उस समय रात को मानगढ़ में बड़ा भयानक लगता था क्योंकि सैकड़ों तो चिड़ियाँ रहती थीं, बिल्ली कूदती थी तो फड़–फड़ आवाज होती थी, किवाड़ें टूटी थीं तो हवा से फट्ट–फट्ट की आवाज होती थी और ऐसा लगता था मानो सीढ़ियों पर कोई चढ़ रहा है तो बड़ा खतरनाक लगता था। हम भिक्षा माँगने जाते थे तो गाँव में कीर्तन करते थे। जब हम रात को भिक्षा लेकर लौटे, कीर्तन करते आ रहे थे, तो जिन विद्वान् जी ने हमें ज्ञान दिया था कि आत्मदृष्टि रखो, डरो मत; वे बड़े जोर से चिल्ला रहे थे कि अरे ! जल्दी दौड़ो... जल्दी दौड़ो ... हमने समझा कि इनको साँप या बिच्छू ने काट लिया है, हम जल्दी से दौड़े बीच रास्ते से, जब उनके पास में आये, तो वह बोले कि अरे भाई ! हमारी गलती माफ करो, हमने आपको बहुत ज्ञान दिया, बहुत फटकारा, बहुत डाँटा, यहाँ तो आप जाने कैसे रहते हो ? उन्होंने किताब तो बहुत अच्छी पढ़ी थी लेकिन सामने की जीवनी 'प्रत्यक्ष रहनी' practical life अलग होती है । वे बेचारे विद्वान् साहब बहुत घबड़ा गए, रात को हमसे लिपटकर सोये और सबेरा होते ही बिस्तर उठाकर भाग गये, आये थे यहाँ तपस्या, भजन–आराधन करने और एक रात में ही भाग गये। भगवान् कपिल ने कहा है–

यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥

(श्रीभागवतजी ३/२७/२७)

सौ, दो सौ, पाँच सौ, हजार, लाख, करोड़ों वर्षों के जब पुण्य इकट्ठा होकर आते हैं, तब जीव को 'वैराग्य' की प्राप्ति होती है। 'वैराग्य' कोई ऐसी वस्तु नहीं है जैसा कि हम लोग समझते हैं कि कर्म फूट गया; 'वैराग्य' बहुत बड़ी वस्तु है। करोड़ों–अरबों वर्षों से जो माया का बन्धन चला आ रहा है, उससे जब जीव छूटने के लिए चलता है तो लोग समझते हैं कि इसका कर्म फूट गया है, भाग्यहीन हो गया है, अब यह भिक्षा माँगकर खायेगा; ऐसा नहीं है, वह 'जीव' तो ऐसा धन प्राप्त कर रहा है जो करोड़ों सेठ नहीं पा सकते। वैराग्यमयी रहनी से ही काम, क्रोध, लोभ, भय इत्यादि के संस्कार नष्ट होते हैं ...। वस्तुतः 'आत्मतत्त्व' को इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं हैं, बुद्धि नहीं जान सकती है। 'स्वतः से स्वतः को जानना' – ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं। यह ठीक है, ऐसा होता होगा किन्तु हमारा तो विचार यह है कि 'जीव' जान ही नहीं सकता है, स्वतः से स्वतः को 'जीव' नहीं जान सकता। जानने का एक ही तरीका है –

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई ।

(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड –१२७)

वह 'भगवान्' जना देता है, तब 'जीव' जान सकता है; नहीं तो अपने आप 'जीव' नहीं जान सकता है। इस कलियुग में कहाँ ज्ञान है, कहाँ योग है, कहाँ तप है, कहाँ वैराग्य है ? ऐसा मुझे कहीं दिखाई नहीं पड़ता। वस्तुतः जीव समर्पण भी नहीं कर सकता। जीव तो इतना दुर्बल है कि कौन छोड़ सकता है अपनी आसक्तियों को ...। यदि हम साधु बन गये तो क्या शरीर की आसक्ति को छोड़ देंगे ...? शरीर तो सब जगह साथ जाता है। 'समर्पण' तो 'जीव' कर ही नहीं सकता, केवल 'जीव' समर्पण की तैयारी करता है, 'समर्पण' कर नहीं सकता है। जैसे – एक छोटा–सा बच्चा लड्डू खा रहा है, वह अपनी माँ के मुख की ओर लड्डू ले जाता है कि यह भी खा ले। माँ उसके दिए लड्डू को लेकर खा लेती है। बच्चे ने इस प्रकार लड्डू का समर्पण किया परन्तु वह समर्पण वास्तव में पूरा नहीं था क्योंकि लड्डू भी माँ का था, बच्चे का शरीर भी माँ का था; बच्चे के अन्दर भाव आया कि माँ इस लड्डू को खा ले। बच्चे के प्रेम को देखकर माँ ने अपने ही दिए लड्डू को बच्चे से लेकर खा लिया तो यह हो गया 'बच्चे का समर्पण' किन्तु यदि माँ बच्चे के दिए लड्डू को न लेती तो क्या होता ? क्या बच्चे का समर्पण पूर्ण होता ? नहीं होता। इसलिए मनुष्य तो समर्पण की तैयारी करता है, उसके अन्दर जब भाव आता है और प्रभु उसके भाव को स्वीकार कर लेते हैं तो यही 'समर्पण' हुआ। 'जीव' न तो समर्पण कर सकता है, न ही कुछ जान सकता है। जब उसके अन्दर सच्चा भाव आता है और उसके भाव को 'भगवान्' ग्रहण कर लेते हैं तो यही 'अध्यात्म चित्त का समर्पण' हुआ एवं उसकी पहचान हो जाती है – 'निराशीर्निर्मम'। जब मन भगवान् को समर्पित हो गया तो अब लड्डू आदि की कौन सोचेगा, पैसा और भोग की कौन सोचेगा ? इस प्रकार से 'सच्चा समर्पण' होने पर जीव के अनादिकाल के विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इत्यादि सब नष्ट हो जाते हैं और उसे श्रीभगवान् की नित्य प्राप्ति हो जाती है ...।

पारमार्थिक–शिक्षा ही परमकल्याणकारी

बाबाश्री के श्रीमद्भगवद्गीता–सत्संग (२८, २९ /१/२०१२) से संकलित

केनोपनिषद् का एक वाक्य है –

'शप्यमानस्य यत् पापं शपमानम् हि गच्छति । '

अर्थात् जिसका अपमान होता है, जिसको गाली दी जाती है, उसका पाप गाली देने वाले को, अपमान करने वाले को लग जाता है और वह उसको भोगना पड़ता है तो इस प्रकार हमारा भोग टल जाता है, हमारा जो भी छोटा–मोटा प्रारब्ध भोग था, वह टल जाता है; इसका उदाहरण हैं रामचरितमानस में परशुरामजी । जनकजी के धनुष–यज्ञ में जब शिवजी का धनुष भंग हुआ तो परशुरामजी ने बहुत अधिक क्रोध किया। क्रोध करने पर उनके बल की हानि होने लगी।

भृगुपति सुनि सुनि निरभय बानी ।
रिस तन जरइ होइ बल हानी ॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड –२७८)

भगवान् होने पर भी परशुरामजी तक पर यह सिद्धांत लागू हो गया। अतः क्रोध करने पर निश्चित बल की हानि होती है। इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है ? इसीलिए केनोपनिषद् में लिखा है कि जिसको गाली दी जाती है, यदि वह बदले में कुछ नहीं बोलता है तो उसका पाप गाली देने वाले के पास चला जाता है और उसका प्रारब्ध भोग नष्ट हो जाता है। इसीलिए श्लोक (गीता २/४०) में भगवान् कहते हैं कि इस धर्म का थोड़ा–सा भी पालन करने से बहुत बड़े भय से रक्षा हो जाती है, यदि कोई भक्त क्रोध कर रहा है और तुम उसके क्रोध को प्रसन्नता से सह लेते हो तो तुम्हारे कर्म जल जायेंगे, अशुभ–पाप आदि सब जल जायेंगे और यदि तुमने उससे बदला लेने की सोचा तो नुक्सान में रहोगे ।

श्लोक – ४१

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

(श्रीगीताजी २/४१)

हे कुरुनन्दन ! इस कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है और जिनकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं है, वे अनंत शाखाएं रखते हैं और अनंत फल चाहते हैं ।

व्यवसायात्मिका बुद्धि का अर्थ है – निश्चयात्मिका बुद्धि, वह एक ही होती है और अव्यवसायी अर्थात् जिनके निश्चय नहीं है, उनकी बुद्धि अनेक प्रकार की होती है । जैसे आध्यात्मिक भक्तिमयी शिक्षा और आधुनिक भौतिकतावादी शिक्षा । आध्यात्मिक गुरुकुल पद्धति की शिक्षा व्यवसायात्मिका बुद्धि के अंतर्गत है और वह व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है तथा आधुनिक भौतिकतावादी शिक्षा – अंग्रेजी, गणित, विज्ञान आदि यह बहुत–सी शाखा वाली और अनंत है; प्राचीनकाल में ऐसी शिक्षा नहीं थी। जितनी शाखाएँ बँट जाती हैं, उतना ही बुद्धि भी बँट जाती है। 'अव्यवसायिनाम्' – जिनकी निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं है, उनकी बुद्धि बहुत–सी शाखाओं में बँट जाती है और अनंत हो जाती है। जैसे वर्तमानकालीन शिक्षा में अनेकों नए–नए विषय बन गए हैं, जो प्राचीन शिक्षा में नहीं थे । कॉमर्स (वाणिज्य) है, उसके बाद व्यापार की ट्रेनिंग का विषय अलग बना, इस प्रकार से बुद्धि बँटती जाती है । शाखाएँ बँट गयीं तो वे अनंत हो जाती हैं। आधुनिक शिक्षा अव्यवसायी है, इसमें निश्चय नहीं है जबकि व्यवसायात्मिका, परमार्थ की बुद्धि (पारमार्थिक शिक्षा) एक ही होती है । <u>प्राचीन भारतवर्ष की शिक्षा व्यवसायात्मिका थी, उसमें केवल आवश्यकतानुसार भाषा–ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी, उसके बाद आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान की जाती थी । अधिक शाखा वाली वर्तमानकालीन शिक्षा बुद्धि को अव्यवसायात्मिका (अव्यवस्थित, चंचल) बना देती है। यह प्राचीनकाल की शिक्षा और वर्तमानकाल की शिक्षा में अंतर है।</u> व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही है और वह सदा एक ही रहेगी, उसमें शाखाएँ नहीं होतीं और जितनी शाखाएँ होती जाएँगी, बँटती जाएगी, बुद्धि उतनी ही अव्यवसायी होती जाएगी, उसका निश्चय घटता जायेगा ।

इस प्रकार कर्मयोग में व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है, इसमें फल की आकांक्षा नहीं रखी जाती है तथा जिनकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं है, वे अनन्त शाखाएँ रखते हैं, अनन्त फलों की कामना करते हैं कि यह भी मिल जाए, वह भी मिल जाए... ।

श्लोक – ४२

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

(श्रीगीताजी २/४२)

जो अविपश्चित (नासमझ) लोग हैं, वे पुष्पित वाणी को, जो ऊपर से अच्छी दिखाई पड़ती है, उसे कहते हैं ।
हे पार्थ ! वेद पढ़ने वाले भी, इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं । पुष्पित वाणी वह है, जो फूल की तरह दिखाई देती है, उसमें फल नहीं होता है । अविपश्चित लोग जो अविद्वान हैं, वे भले ही वेदों का अध्ययन करें, वे वेदवादरत रहते अर्थात् कर्मकांड में फँसे रहते हैं तथा पुष्पित वाणी कहते हैं, जो फूल की तरह बहुत सुंदर दिखाई देती है लेकिन वह अव्यवसायात्मिका बुद्धि होती है । अविपश्चित लोग फूल की तरह लुभावनी वाणी बोलते हैं और वे कहते हैं कि यही सही है, यही यथार्थ है और हमारे अतिरिक्त जो लोग कुछ कहते हैं, वह गलत है । इस प्रकार वे हठी होते हैं क्योंकि पुष्पित वाणी के लोभ में रहते हैं और जोर देकर कहते हैं कि यही सही है, एकमात्र यही पर्याप्त है । प्रायः वर्तमानकाल की वाणियाँ पुष्पित हैं, फूल की तरह देखने में अच्छी लगती हैं क्योंकि इस पुष्पित वाणी रूप आधुनिक शिक्षा से लोगों को व्यवसाय–नौकरी आदि की प्राप्ति होती है, इसको ग्रहण करके मनुष्य धन अर्जित करता है, इसलिए ऐसे लोगों के लिए ऐसी पुष्पित वाणी (आधुनिक शिक्षा) के अतिरिक्त अन्य वाणियाँ (पारमार्थिक शिक्षा) गलत हैं । जैसे वर्तमानकाल के अधिकांश लोग गीता, रामायण, भागवत आदि आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन करना अच्छा नहीं समझते जबकि वे माता–पिता हैं लेकिन यही चाहते हैं कि हमारे बच्चे विज्ञान, गणित, अंग्रेजी आदि भौतिक शिक्षा का अध्ययन करें; वस्तुतः ये पुष्पित वाणियाँ हैं और बुद्धि को व्यवसायात्मिका नहीं बनाती हैं किन्तु अविपश्चित लोग उसी को ठीक मानते हैं; उनका ऐसा विचार होता है कि पुष्पित वाणी के अतिरिक्त और कुछ उचित नहीं है ।

श्लोक – ४३

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविश्लेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥

(श्रीगीताजी २/४२)

स्वर्ग तथा जन्म–कर्म–फल देने वाली ऐसी पुष्पित वाणी, जिसमें बहुत से यज्ञ आदि कर्म किये जाते हैं, उसी को वे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि भोग व ऐश्वर्य की प्राप्ति ही उनका लक्ष्य होता है, उनके मन में कामनाएँ होती हैं ।
पुष्पित वाणी कैसी होती है – 'कामात्मानः' अर्थात् उसको कहने वाले लोग कामी होते हैं, उनका लक्ष्य होता है – धन संग्रह करना, वे यज्ञ करते हैं जिससे स्वर्ग की प्राप्ति हो जाए । उससे क्या होता है, बार–बार जन्म होता है, कर्मों का फल मिलता है, जैसे – पाण्डित्य और कर्मकांड हैं, उसमें बहुत से कर्म करने पड़ते हैं, उसका अंत कहाँ है, उसका अंत है केवल भोग और ऐश्वर्य में । धन मिल गया, धन से जीविका मिल गयी, खूब खाने–पीने लगे, इस तरह से पुष्पित वाणी का अंत भोग और ऐश्वर्य में ही होता है, उसका लक्ष्य होता है कि किसी प्रकार से धन की प्राप्ति हो जाए । धन से भोग और ऐश्वर्य मिलते हैं, इसी को पुष्पित वाणी कहा जाता है । इसी पढ़ाई को लोग पढ़ाई समझते हैं, जिससे शीघ्र ही नौकरी मिल जाए, धन मिल जाए । अतः पुष्पित वाणी का लक्ष्य भोग व ऐश्वर्य की प्राप्ति के प्रति होता है ।

श्लोक – ४४

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

(श्रीगीताजी २/४४)

भोग और ऐश्वर्य में जिनकी आसक्ति है तथा जिनकी चेतना भी इन्हीं के द्वारा खींच ली गयी है, ऐसे लोगों की भगवान् में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती है । जो चीज भोग और ऐश्वर्य देती है, उसमें जिनका मन प्रसक्त अर्थात्

फँस गया है, उनकी सारी चेतना उसी में लग जाती है। समाज में सफलता के शिखर पर पहुँचकर उसे लोग प्राप्त करने में लगे रहते हैं। कभी भी भगवान् में उनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं लगेगी। वर्तमानकाल की पी. एच. डी., डॉक्टर इत्यादि की जितनी भी अनेकों प्रकार की शिक्षाएँ चल रही हैं, इनका अध्ययन करने वालों का मन कभी भी भगवान् में नहीं लगेगा। व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है, वह निश्चयात्मिका होती है। बहुत-सी शाखा वाली बुद्धि अव्यवसायात्मिका हो जाती है, सांसारिक हो जाती है। भगवान् में मन लगाने के लिए एक ही बुद्धि चाहिए, वह है व्यवसायात्मिका; उसमें भोग व ऐश्वर्य का लक्ष्य न रहे। धन की प्राप्ति, फिर धन से मालकियत (ऐश्वर्य) की प्राप्ति – ये सब लक्ष्य जिनका रहता है, ऐसे लोग पारमार्थिक नहीं रह पाते हैं; यह भगवान् का मत है। चाहे साधु बन गए हैं किन्तु यदि भोग व ऐश्वर्य में हमारी बुद्धि है तो व्यवसायात्मिका बुद्धि की प्राप्ति कभी नहीं होगी। अध्यात्म के पथ पर आकर भी वही धंधा करेंगे, यज्ञ के नाम पर धन-संग्रह करेंगे और सोचेंगे कि कितना पैसा बचा लें। यह बीमारी साधु बनने पर भी रहती है और इस तरह हम लोगों की बुद्धि भगवान् में नहीं रहती है, व्यवसाय में रहती है, व्यापार में रहती है। यह विकृति सभी जगह देखी जाती है। भोग और ऐश्वर्य में यदि बुद्धि गयी तो भगवान् हाथ से निकल जाते हैं, ऐसा व्यक्ति परमार्थ के पथ पर सफल नहीं हो सकता। इसीलिए बुद्धि कभी भी भोग और ऐश्वर्य में नहीं जानी चाहिए। भोग है मोटर–गाड़ी, अच्छा भोजन, अच्छा मकान, अच्छा आश्रम मिल जाए तथा ऐश्वर्य यह है कि किसी आश्रम के महंत बन जाएँ, किसी मन्दिर के अध्यक्ष (president) बन जाएँ। इसका प्रमाण है – एकबार रामराज्य में किसी साधु ने बिना किसी कारण के ही एक कुत्ते को डंडे से मार दिया, वह कुत्ता रोता हुआ रामजी के दरबार में गया और शिकायत की तो भगवान् राम ने कहा कि उस साधु को क्या दंड दिया जाये तो वह कुत्ता बोला कि इसे किसी आश्रम का महन्त बना दिया जाए; इस पर लोगों ने कहा कि तू तो उसे दंड न देकर पुरस्कार दे रहा है, कुत्ता बोला – नहीं, यह पुरस्कार नहीं है, दंड है क्योंकि 'भोग और ऐश्वर्य' मनुष्य को 'भगवान्' से अलग कर देता है ।

"रघुबर ! रावरि यहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीब पर, करत कृपा अधिकाई ॥
स्वान कहें ते कियो पुर बाहिर, जती गयंद चढ़ाई।"

(तुलसी-विनयपत्रिका)

अतः जो लोग साधु बनने पर भी भोग तथा ऐश्वर्य के प्रति आसक्त रहते हैं तो वे तुरंत ऊँचा पद पाना चाहते हैं, महन्त की गद्दी पर बैठना चाहते हैं और इस तरह उनका मन 'भगवान्' से हट जाता है |

गौ–सेवकों की जिज्ञासा पर माताजी गौशाला का

Account number दिया जा रहा है –

SHRI MATAJI GAUSHALA, GAHVARVAN,
BARSANA, MATHURA

Bank – Axis Bank Ltd **A/C – 915010000494364**

IFSC – UTIB0001058 **BRANCH – KOSI KALAN** **MOB. NO. – 9927916699**

जहाँ तीन चीजें नहीं हैं, वहाँ एक क्षण को भी मत रहना, चाहे तुमको इन्द्रलोक-ब्रह्मलोक ही क्यों न मिल जाएँ। एक तो जहाँ भगवान् की कथा नहीं है; दूसरा जहाँ भगवान् के आश्रित साधु भक्तों का संग नहीं है; तीसरा भगवान् का जहाँ महोत्सव नहीं है।

श्रीजी मंदिर, बरसाना

श्री मान मंदिर, बरसाना

फालेन की होरी: धधकती अग्नि से निकलते पंडा जी

बठैन की होली

विहार कुंड, चिकसौली

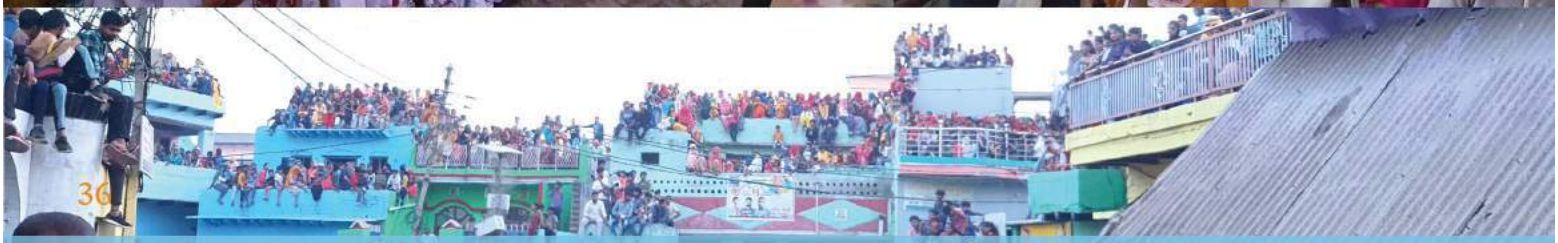

RNI Reference No. 1313397 - Registration No. UP BIL-2017/72945 - Title Code UP BIL-04953
Postal Regd. No. MTR 093/2021-2023
श्री मान मंदिर सेवा संस्थान के लिए प्रकाशक/मुद्रक एवं संपादक राधाकांत शास्त्री द्वारा Gupta Offset Printers A -125 /1, Wazirpur Industrial Area, New Delhi -52 से मुद्रित एवं मान मंदिर सेवा संस्थान, गह्वर वन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.) से प्रकाशित